



# श्रमणा

वर्ष ४५ ]

अप्रैल-जून १९६४

[ अंक ४ ]

प्रधान सम्पादक  
प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक

डा० अशोक कुमार सिंह

सह-सम्पादक

डा० शिवप्रसाद

वर्ष ४५

अप्रैल-जून, १९९४

अंक ४-६

प्रस्तुत अङ्क में

प्रो० सागरमल जैन के निम्न आलेख प्रकाशित  
किये जा रहे हैं—

१. भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप	१२९-१३४
२. पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म	१३५-१४३
३. जैनधर्म और सामाजिक समता	१४४-१६१
४. जैन आगमों में मूल्यात्मक शिक्षा और वर्तमान सन्दर्भ	१६२-१७२
५. खजुराहो की कला और जैनाचार्यों की समन्वयात्मक एवं सहिष्णु दृष्टि	१७३-१७८
६. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जैनधर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समालोचना	१७९-१८४
७. ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचायें : एक अध्ययन	१८५-२०२
८. निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्विन्तन	२०३-२३३
९. जैन एवं बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण और अनुवाद की समस्या	२३४-२३८
१०. जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन : एक विमर्श	२३९-२५३
११. भगवान महावीर की निर्वाणतिथि पर पुनर्विचार	२५४-२६८
१२. जैन जगत्	

वार्षिक शुल्क

चालीस रुपये

एक प्रति

दम रुपये

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हों।

# भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप

- प्रो. सागरमल जैन

भारतीय संस्कृति एक संश्लिष्ट संस्कृति है। उसे हम विभिन्न चहारदीवारियों में अवरूढ़ कर कभी भी सम्यक् प्रकार से नहीं समझ सकते हैं, उसको खण्ड-खण्ड में विभाजित करके देखने में उसकी आत्मा ही मर जाती है। जैसे शरीर को खण्ड-खण्ड कर देखने से शरीर की क्रिया-शक्ति को नहीं समझा जा सकता है, वैसे ही भारतीय संस्कृति को खण्ड-खण्ड करके उसकी मूल आत्मा को नहीं समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति को हम तभी सम्पूर्ण रूप से समझ सकते हैं, जब उसके विभिन्न घटकों अर्थात् जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म-दर्शन का समन्वित एवं सम्यक् अध्ययन न कर लिया जाय। बिना उसके संयोजित घटकों के ज्ञान के उसका सम्पूर्णता में ज्ञान सम्भव ही नहीं है। एक इंजन की प्रक्रिया को भी सम्यक् प्रकार से समझने के लिए न केवल उसके विभिन्न घटकों अर्थात् कल-पुर्जों का ज्ञान आवश्यक होता है, अपितु उनके परस्पर संयोजित रूप को भी देखना होता है। अतः हमें स्पष्ट रूप से इस तथ्य को समझ लेना चाहिए कि भारतीय संस्कृति के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र में अन्य सहवर्ती परम्पराओं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन के बिना कोई भी शोध परिपूर्ण नहीं हो सकती है। धर्म और संस्कृति शून्य में विकसित नहीं होते, वे अपने देशकाल और सहवर्ती परम्पराओं से प्रभावित होकर ही अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं। यदि हमें जैन, बौद्ध, वैदिक या अन्य किसी भी भारतीय सांस्कृतिक धारा का अध्ययन करना है, उसे सम्यक् प्रकार से समझना है, तो उसके देश, काल एवं परिवेशगत पक्षों को भी प्रामाणिकता पूर्वक तटस्थ बुद्धि से समझना होगा। चाहे जैन विद्या के शोध एवं अध्ययन का प्रश्न हो या अन्य किसी भारतीय विद्या का, हमें उसकी दूसरी सहवर्ती परम्पराओं को अवश्य ही जानना होगा और यह देखना होगा कि वह उन दूसरी सहवर्ती परम्पराओं से किस प्रकार प्रभावित हुयी है और उसने उन्हें किस प्रकार प्रभावित किया है। पारस्परिक प्रभावकता के अध्ययन के बिना कोई भी अध्ययन पूर्ण नहीं होता है।

यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति के इतिहास के आदिकाल से ही हम उसमें श्रमण और वैदिक संस्कृति का अस्तित्व साथ-साथ पाते हैं; किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भारतीय संस्कृति में इन दोनों स्वतन्त्र धाराओं का संगम हो गया है और अब इन्हें एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही ये दोनों धारायें परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होती रही हैं। अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर विचार के क्षेत्र में हम चाहे उन्हें अलग-अलग देख लें, किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम माना जाता है। उसमें

जहाँ एक ओर वैदिक समाज एवं वैदिक क्रिया-काण्डों का उल्लेख है, वहीं दूसरी ओर उसमें न केवल व्रात्यों, श्रमणों एवं अर्हंतों की उपस्थिति के उल्लेख उपलब्ध हैं, अपितु ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि, जो जैन परम्परा में तीर्थंकर के रूप में मान्य हैं, के प्रति समादर भाव भी व्यक्त किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ से ही भारत में ये दोनों संस्कृतियाँ साथ-साथ प्रवाहित होती रही हैं।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की जानकारी हमें उपलब्ध होती है; उससे सिद्ध होता है, कि वैदिक संस्कृति के पूर्व भी भारत में एक उच्च संस्कृति अस्तित्व रखती थी। जिसमें ध्यान, साधना आदि पर बल दिया जाता था। उस उत्खनन में ध्यानस्थ योगियों की सीलें आदि मिलना तथा यज्ञशाला आदि का न मिलना यही सिद्ध करना है कि वह संस्कृति तप, योग एवं ध्यान प्रधान व्रात्य संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थी। किन्तु इतना निश्चित है कि आर्यों के आगमन के साथ प्रारम्भ हुए वैदिक युग से दोनों ही धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित हो रही हैं और उन्होंने एक दूसरे को पर्याप्त रूप से प्रभावित भी किया है। ऋग्वेद में व्रात्यों के प्रति जो तिरस्कार भाव था, वह अथर्ववेद में समादर भाव में बदल जाता है, जो दोनों धाराओं के समन्वय का प्रतीक है। तप, त्याग, संन्यास, ध्यान, समाधि, मुक्ति और अहिंसा की अवधारणाएँ, जो प्रारम्भिक वैदिक ऋचाओं और कर्मकाण्डों ब्राह्मण ग्रन्थों में अनुपलब्ध थी, वे आरण्यक आदि परवर्ती वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से उपनिषदों में अस्तित्व में आ गयी हैं। इससे लगता है कि ये अवधारणाएँ संन्यासमार्गीय श्रमणधारा के प्रभाव से ही वैदिक धारा में प्रविष्ट हुयी हैं। उपनिषदों, महाभारत और गीता में एक ओर वैदिक कर्मकाण्ड की समालोचना और उन्हें आध्यात्मिकता से समन्वित कर नये रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न तथा दूसरी ओर तप, संन्यास और मुक्ति आदि की स्पष्ट रूप से स्वीकृति, यही सिद्ध करती है कि ये ग्रन्थ श्रमण और वैदिक धारा के बीच हुए समन्वय या संगम के ही परिचायक हैं। हमें यह स्मरण रखना होगा कि उपनिषद् और महाभारत, जिसका एक अंग गीता है, शुद्ध रूप से वैदिक कर्मकाण्डात्मक धर्म के प्रतिनिधि नहीं है। वे निवृत्ति प्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्तिमार्गी वैदिक धारा के समन्वय का परिणाम है। उपनिषदों में और महाभारत, गीता आदि में जहाँ एक ओर श्रमणधारा के आध्यात्मिक और निवृत्ति प्रधान तत्त्वों को स्थान दिया गया, वहीं दूसरी ओर यज्ञ आदि वैदिक कर्मकाण्डों की श्रमण परम्परा के समान आध्यात्मिक दृष्टि से नवीन परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गई, उनमें यज्ञ का अर्थ पशुबलि न होकर स्वहितों की बलि या समाजसेवा हो गया। हमें यह स्मरण रखना होगा कि हमारा हिन्दू धर्म वैदिक और श्रमण धाराओं के समन्वय का परिणाम है। वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में, जो आवाज औपनिषदिक युग के ऋषि मुनियों ने उठाई थी, जैन, बौद्ध और अन्य श्रमण परम्पराओं ने मात्र उसे मुखर ही किया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति यदि किसी ने पहली आवाज उठाई तो वे औपनिषदिक ऋषि ही थे। उन्होंने ही सबसे पहले कहा था कि ये यज्ञरूपी नौकाये अदृढ़ हैं, ये आत्मा के विकास में सक्षम नहीं हैं। यज्ञ आदि कर्मकाण्डों की नयी आध्यात्मिक व्याख्याएँ देने और उन्हें श्रमणधारा की आध्यात्मिक दृष्टि के अनुरूप बनाने का कार्य औपनिषदिक ऋषियों और गीता के प्रवक्ता का है। जैन और बौद्ध परम्पराएँ तो

औपनिषदिक ऋषियों के द्वारा प्रशस्त किये गये पथ पर गतिशील हुयी हैं। वे वैदिक कर्मकाण्ड, जन्मना जातिवाद और मिथ्या विश्वासों के विरोध में उठे हुए औपनिषदिक ऋषियों के स्वर का ही मुखरित रूप है। जैन और बौद्ध परम्पराओं में औपनिषदिक ऋषियों की अर्हत् ऋषि के रूप में स्वीकृति इसका स्पष्ट प्रमाण है।

यह सत्य है कि श्रमणों ने यज्ञों में पशुबलि, जन्मना वर्णव्यवस्था और वेदों की प्रामाण्यता से इन्कार किया और इस प्रकार से वे भारतीय संस्कृति के समुद्धारक के रूप में ही सामने आये; किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भारतीय संस्कृति की इस विकृति का परिमार्जन करने की प्रक्रिया में वे स्वयं ही कहीं न कहीं उन विकृतियों से प्रभावित हो गये। वैदिक कर्मकाण्ड अब तन्त्रसाधना के नये रूप में बौद्ध, जैन और अन्य श्रमण परम्पराओं में प्रविष्ट हो गया और उनकी साधना पद्धति का एक अंग बन गया। आध्यात्मिक विशुद्धि के लिये किया जाने वाला ध्यान अब भौतिक सिद्धियों के निमित्त किया जाने लगा। जहां एक ओर भारतीय श्रमण परम्परा ने वैदिक परम्परा को आध्यात्मिक जीवन दृष्टि के साथ-साथ तप, त्याग, संन्यास और मोक्ष की अवधारणायें प्रदान की वहीं दूसरी ओर वैदिक परम्परा के प्रभाव से तान्त्रिक साधनायें जैन और बौद्ध परम्पराओं में भी प्रविष्ट हो गयीं। अनेक हिन्दू देव-देवियां प्रकारान्तर से जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में स्वीकार कर ली गईं। जैनधर्म में यक्ष-यक्षियों एवं शासनदेवता की अवधारणाएँ हिन्दू देवताओं का जैनीकरण मात्र हैं। अनेक हिन्दू देवियां जैसे-- काली, महाकाली, ज्वालामालिनी, अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती, सिद्धायिका तीर्थंकरों की शासन रक्षक देवियों के रूप में जैनधर्म में स्वीकार कर ली गयीं। श्रुत-देवता के रूप में सरस्वती और सम्पत्ति प्रदाता के रूप में लक्ष्मी की उपासना जैन जीवन पद्धति का अंग बन गई। हिन्दू परम्परा का गणेश पार्श्व-यक्ष के रूप में लोकमंगल का देवता बन गया। वैदिक परम्परा के प्रभाव से जैन मन्दिरों में भी अब यज्ञ होने लगे और पूजा में हिन्दू देवताओं की तरह तीर्थंकरों का भी आवाहन एवं विसर्जन किया जाने लगा। हिन्दुओं की पूजाविधि को भी मन्त्रों में कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ जैनों ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जैन और बौद्ध परम्पराओं में तप, ध्यान और समाधि की साधना गौण होकर कर्मकाण्ड प्रमुख हो गया। इस पारस्परिक प्रभाव का एक परिणाम यह भी हुआ कि जहां हिन्दू परम्पराओं में ऋषभ और बुद्ध को ईश्वर के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया, वहीं जैन परम्परा में राम और कृष्ण को शलाका पुरुष के रूप में मान्यता मिली। इस प्रकार दोनों धारायें एक दूसरे से समन्वित हुयीं।

आज जब रामकृष्ण संस्कृति संस्थान जैसी संस्थाएँ जैन विद्या के शोध-कार्य को अपने हाथों में ले रही हैं तो मैं कहना चाहूंगा कि उन्हें इस पारस्परिक प्रभावशीलता को तटस्थ दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिए, ताकि धर्मों के बीच जो दूरियां पैदा कर दी गयी हैं, उन्हें समाप्त किया जा सके और उनकी निकटता को सम्यक् रूप से समझा जा सके। यह कार्य वैसे भी इस संस्था का विशेष दायित्व बनता है, क्योंकि इसकी स्थापना स्वामी रामकृष्ण और विवेकानन्द के स्वप्न को साकार करने हेतु हुई है। आज हमें तटस्थ बुद्धि से धर्मों की इस पारस्परिक प्रभावशीलता एवं निकटता को समझना होगा।

दुर्भाग्य से इस देश में विदेशी तत्त्वों के द्वारा न केवल हिन्दू और मुसलमानों के बीच अपितु जैन, बौद्ध, हिन्दू और सिक्खों -- जो कि बृहद् हिन्दू परम्परा के ही अंग हैं, के बीच भी खाईयां खोदने का कार्य किया जाता रहा है और सामान्य रूप से यह प्रसारित किया जाता रहा है कि जैन और बौद्ध धर्म न केवल स्वतन्त्र धर्म हैं, अपितु वे वैदिक हिन्दू परम्परा के विरोधी भी हैं। सामान्यतया जैन और बौद्ध धर्म को वैदिक धर्म के प्रति एक विद्रोह (Revolt) के रूप में चित्रित किया जाता रहा है। यह सत्य है कि वैदिक और श्रमण परम्पराओं में कुछ मूल-भूत प्रश्नों को लेकर मतभेद है, यह भी सत्य है कि जैन और बौद्ध परम्परा ने वैदिक परम्परा की उन विकृतियों को जो कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, जातिवाद और ब्राह्मण वर्ग के द्वारा निम्न वर्गों के धार्मिक शोषण के रूप में उभर रही थी, खुलकर विरोध किया था, किन्तु हमें उसे विद्रोह के रूप में नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति के परिष्कार के रूप में ही समझना होगा। जैन और बौद्ध धर्मों ने भारतीय संस्कृति में आ रही विकृतियों का परिशाधन कर उसे स्वस्थ बनाने हेतु एक चिकित्सक का कार्य किया और चिकित्सक कभी भी शत्रु नहीं, मित्र ही होता है। दुर्भाग्य से पाश्चात्य चिंतकों के प्रभाव से भारतीय चिन्तक और किसी सीमा तक कुछ जैन एवं बौद्ध चिन्तक भी यह मानने लगे हैं कि जैन धर्म और वैदिक (हिन्दू) धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं किन्तु यह एक भ्रांत अवधारणा है चाहे अपने मूल रूप में वैदिक एवं श्रमण संस्कृति-प्रवर्तक और निवर्तक धर्म परम्पराओं के रूप में भिन्न-भिन्न रही हो किन्तु आज न तो हिन्दू परम्परा ही उस अर्थ में पूर्णतः वैदिक है और न ही जैन व बौद्ध परम्परा पूर्णतः श्रमण। आज चाहे हिन्दू धर्म हो, अथवा जैन और बौद्ध धर्म हों, ये सभी अपने वर्तमान स्वरूप में वैदिक और श्रमण संस्कृति के समन्वित रूप हैं। यह बात अलग है कि उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति में से कोई एक पक्ष अभी भी प्रमुख हो, उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि जहाँ जैन धर्म आज भी निवृत्ति प्रधान है वहाँ हिन्दू धर्म प्रवृत्ति प्रधान। फिर भी यह मानना उचित नहीं है कि जैन धर्म में प्रवृत्ति एवं हिन्दू धर्म में निवृत्ति के तत्त्व नहीं हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय में ही निर्मित हुई है। इस समन्वय का प्रथम प्रयत्न हमें ईशावास्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। आज जहाँ उपनिषदों को प्राचीन श्रमण परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है, वहीं जैन और बौद्ध परम्परा को भी औपनिषदिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है। जिस प्रकार वासना और विवेक, श्रेय और प्रेय, परस्पर भिन्न-भिन्न होकर भी मानव व्यक्तित्व के ही अंग हैं उसी प्रकार निवृत्ति प्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्ति प्रधान वैदिक धारा दोनों भारतीय संस्कृति के ही अंग हैं। वस्तुतः कोई भी संस्कृति एकान्त निवृत्ति या एकान्त प्रवृत्ति के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती है। जैन और बौद्ध परम्परायें भारतीय संस्कृति का वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे हिन्दू परम्परा। यदि औपनिषदिक धारा को वैदिक धारा से भिन्न होते हुए भी वैदिक या हिन्दू परम्परा का अभिन्न अंग माना जाता है, तो फिर जैन और बौद्ध परम्पराओं को उसका अभिन्न अंग क्यों नहीं माना जा सकता। यदि सांख्य और मीमांसक अनीश्वरवादी होते हुए भी आस्तिक हिन्दू धर्म दर्शन के अंग माने जाते हैं, तो फिर जैन व बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी

कहकर उससे कैसे भिन्न किया जा सकता है ? हिन्दू धर्म और दर्शन एक व्यापक परम्परा है या कहे कि वह विभिन्न विचार परम्पराओं का समूह है उसमें ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञान-कर्म सभी कुछ तो समाहित हैं। उसमें प्रकृति पूजा जैसे धर्म के प्रारम्भिक लक्षणों से लेकर अद्वैत की उच्च गहराइयाँ तक सभी कुछ सन्निविष्ट हैं।

अतः जैन और बौद्ध धर्म को हिन्दू परम्परा से भिन्न नहीं माना जा सकता। जैन व बौद्ध भी उसी अध्यात्म-पथ के अनुयायी हैं, जिसका प्रवर्तन औपनिषदिक ऋषियों ने किया था। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय समाज के दलित वर्ग के उत्थान तथा जन्मनाजातिवाद, कर्मकाण्ड व पुरोहितवाद से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने उस धर्म का प्रतिपादन किया जो जनसामान्य का धर्म था और जिसे कर्मकाण्डों की अपेक्षा नैतिक सद्गुणों पर अधिष्ठित किया गया था। चाहे उन्होंने भारतीय समाज को पुरोहित वर्ग के धार्मिक शोषण से मुक्त किया हो, फिर भी वे विदेशी नहीं हैं, इसी माटी की संतान हैं, वे शत-प्रतिशत भारतीय हैं। उनकी भूमिका एक शल्य-चिकित्सक की भूमिका है जो मित्र की भूमिका है, शत्रु की नहीं। जैन और बौद्ध धर्म औपनिषदिक धारा का ही एक विकास है और आज उन्हें उसी परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है।

भारतीय धर्मों, विशेषरूप से औपनिषदिक, बौद्ध और जैन धर्मों की जिस पारस्परिक प्रभावशीलता के अध्ययन की आज विशेष आवश्यकता है, उसे समझने में प्राचीन स्तर के जैन आगम यथा -- आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन आदि हमारे दिशा निर्देशक सिद्ध हो सकते हैं। मुझे विश्वास है कि इन ग्रन्थों के अध्ययन से भारतीय विद्या के अध्येताओं को एक नई दिशा मिलेगी और यह मिथ्या विश्वास दूर हो जायेगा कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं। आचारांग में हमें ऐसे अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं जो अपने भाव, शब्दयोजना और भाषाशैली की दृष्टि से औपनिषदिक सूत्रों के निकट हैं। आचारांग में आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह माण्डूक्योपनिषद् से यथावत् मिलता है। आचारांग में श्रमण और ब्राह्मण का उल्लेख परस्पर प्रतिस्पर्धियों के रूप में नहीं, अपितु सहगामियों के रूप में ही मिलता है। चाहे आचारांग, उत्तराध्ययन आदि जैनागम हिंसक यज्ञीय कर्मकाण्ड का निषेध करते हैं, किन्तु वे ब्राह्मणों को भी उसी नैतिक एवं आध्यात्मिक पथ का अनुगामी मानते हैं जिस पथ पर श्रमण चल रहे थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण वह हैं जो सदाचार का जीवन्त प्रतीक हैं। उसमें अनेक स्थलों पर श्रमणों और ब्राह्मणों (समणा-माहणा) का साथ-साथ उल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार सूत्रकृतांग में यद्यपि तत्कालीन दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा है किन्तु उसके साथ ही उसमें औपनिषदिक युग के अनेक ऋषियों यथा -- विदेहनमि बाहुक, असितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि का समादर पूर्वक उल्लेख हुआ है। सूत्रकृतांग स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि यद्यपि इन ऋषियों के आचार-नियम उसकी आचार परम्परा से भिन्न थे, फिर भी वह उन्हें अपनी अर्हत परम्परा का ही पूज्य पुरुष मानता है। वह उन्हें महापुरुष और

तपोधना के रूप में उल्लेखित करता है और यह मानता है कि उन्होंने सिद्धि अर्थात् जीवन के चरम साध्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया था। सूत्रकृतांगकार की दृष्टि में ये ऋषिगण भिन्न आचारमार्ग का पालन करते हुए भी उसकी अपनी ही परम्परा के ऋषि थे। सूत्रकृतांग में इन ऋषियों को सिद्धि प्राप्त कहना तथा उत्तराध्ययन में अन्य लिंग सिद्धों का अस्तित्व मानना यही सूचित करता है कि प्राचीन काल में जैन परम्परा अत्यन्त उदार थी और यह मानती थी कि मुक्ति का अधिकार केवल उसके आचार नियमों का पालन करने वाले को ही नहीं है, अपितु भिन्न आचार मार्ग का पालन करने वाला भी मुक्ति का अधिकारी हो सकता है।

इसी संदर्भ में यहा ऋषिभाषित (इसिभासियाई) का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जो जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ (ई.पू. चौथी शती) है। जैन परम्परा में इस ग्रन्थ का निर्माण उस समय हुआ होगा जब जैन धर्म एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित नहीं हुआ था। इस ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, अंगीरस, पाराशर, अरुण नारायण, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, विदुर, सारिपुत्त, महाकश्यप, मंखलिगोसाल, संजय (वेल्ठिठपुत्त) आदि पैतालिस ऋषियों का उल्लेख है और इन सभी को अर्हत्ऋषि, बुद्ध-ऋषि एवं ब्राह्मणऋषि कहा गया है। ऋषिभाषित में इनके अध्यात्मिक और नैतिक उपदेशों का संकलन है। जैन परम्परा में इस ग्रन्थ की रचना इस तथ्य का स्पष्ट संकेत है कि औपनिषदिक ऋषियों की परम्परा और जैन परम्परा का उद्गम स्रोत एक ही है। यह ग्रन्थ न केवल जैन धर्म की धार्मिक उदारता का सूचक है, अपितु यह भी बताता है कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं का मूल स्रोत एक ही है। औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक, सांख्य, योग आदि सभी उसी मूल स्रोत से निकली हुई धारायें हैं। जिस प्रकार जैन धर्म में ऋषिभाषित में विभिन्न परम्पराओं के उपदेश संकलित हैं, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा की थेरगाथा में भी विभिन्न परम्पराओं के जिन-स्थविरों के उपदेश संकलित हैं, उनमें भी अनेक औपनिषदिक एवं अन्य श्रमण परम्परा के आचार्यों के उल्लेख हैं। जिनमें एक वर्धमान (महावीर) भी हैं। यह सब इस तथ्य का सूचक है कि भारतीय परम्परा प्राचीनकाल से ही उदार और सहिष्णु रही है और उसकी प्रत्येक धारा में यही उदारता और सहिष्णुता प्रवाहित होती रही है। आज जब हम साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से जकड़ कर परस्पर संघर्षों में उलझ गये हैं इन ग्रन्थों का अध्ययन हमें एक नयी दृष्टि प्रदान कर सकता है। यदि भारतीय सांस्कृतिक चिंतन की इन धाराओं को एक दूसरे से अलग कर देखने का प्रयत्न किया जायेगा तो हम उन्हें सम्यक् रूप से समझने में सफल नहीं हो सकेंगे। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और आचारांग को समझने के लिए औपनिषदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार उपनिषदों और बौद्ध साहित्य को भी जैन परम्परा के अध्ययन के अभाव में सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता है। आज साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर तटस्थ एवं तुलनात्मक रूप से सत्य का अन्वेषण ही एक ऐसा विकल्प है जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश से ग्रस्त मानव को मुक्ति दिला सकता है।



## पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म\*

- प्रो. सागरमल जैन

तीव्रता से बढ़ती हुई जनसंख्या और उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण प्रदूषित होते पर्यावरण की रक्षा का प्रश्न आज मानव समाज की एक ज्वलन्त समस्या है, क्योंकि प्रदूषित होते हुए पर्यावरण के कारण न केवल मानवजाति अपितु पृथ्वी पर स्वयं जीवन के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण जीवन के लिये आवश्यक स्रोतों का इतनी तीव्रता से और इतनी अधिक मात्रा में दोहन हो रहा है कि प्राकृतिक तेल एवं गैस की बात तो दूर रही, अगली शताब्दी में पेयजल और सिंचाई हेतु पानी मिलना भी दुष्कर होगा। यन्त्री नदी, शहरों में शुद्ध प्राणवायु के थैले लगाकर चलना होगा। अतः मानवजाति के भावी अस्तित्व के लिये यह आवश्यक हो गया है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने के प्रयत्न अविलम्ब प्रारम्भ हो। यह शुभ-लक्षण है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने की चेतना आज समाज के सभी वर्गों में जागी है और इसी क्रम में यह विचार भी उभर कर सामने आया है कि विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के ऐसे कौन से निर्देश हैं जिनको उजागर करके पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के सन्दर्भ में मानव समाज के विभिन्न वर्गों की चेतना को जागृत किया जा सके। इस सन्दर्भ में यहाँ मैं जैनधर्म की दृष्टि से ही आप लोगों के समक्ष अपने विचार रखूँगा।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जैनधर्म में भोगवृत्ति के प्रति संयम, अहिंसा और असंग्रह (अपरिग्रह) पर सर्वाधिक बल दिया गया है। उसके इन्ही मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर जैनधर्म में ऐसे अनेक आचार नियमों का निर्देश हुआ है, जिनका परिपालन आज पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये आवश्यक है। जैनधर्म के प्रवर्तक आचार्यों ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व यह उद्घोषणा की थी कि न केवल प्राणीय जगत् एवं वनस्पति जगत् में जीवन की उपस्थिति है, अपितु उन्होंने यह भी कहा था कि पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि में भी जीवन हैं।<sup>1</sup> एक ओर तो वे यह मानते थे कि पृथ्वी, पानी एवं वनस्पति के आश्रित होकर अनेकानेक प्राणी अपना जीवन जीते हैं, अतः इनके दुरुपयोग, विनाश या हिंसा से उनका भी विनाश होता है।<sup>2</sup> दूसरे ये स्वयं भी जीवन है, क्योंकि इनके अभाव में जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है। क्या हम जल, वायु, पृथ्वीतत्त्व एवं ऊर्जा (अग्नितत्त्व) के अभाव में जीवन की कोई कल्पना भी कर सकते हैं ? ये तो स्वयं जीवन के अधिष्ठान हैं। अतः इनका दुरुपयोग या विनाश स्वयं जीवन का ही विनाश है। इसीलिये जैनधर्म में उसे हिंसा या पाप कहा गया है।

\* आकाशवाणी वाराणसी से प्रसारित वार्ता, नवम्बर 1993

हिन्दू धर्म में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को जो देव रूप माना गया है, उसका आधार भी इनका जीवन के अधिष्ठान रूप होना ही है। जैन परम्परा में भगवान महावीर से पूर्व भगवान पार्श्व के काल में भी पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में जीवन होने की यह अवधारणा उपस्थित थी। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक -- ऐसे षट्जीवनिकायों की चर्चा प्राचीन जैन आगमों का प्रमुख विषय रहा है। आचारांगसूत्र (ई.पू. पाँचवीं शती) का तो प्रारम्भ ही इन षट्जीवनिकायों के निरूपण से तथा उनकी हिंसा के कारणों एवं उनकी हिंसा से बचने के निर्देशों की चर्चा से ही होता है। इन षट्जीवनिकायों की हिंसा नहीं करने के सन्दर्भ में जैन आचार्यों के जो निर्देश हैं, वे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने की दृष्टि से आज सर्वाधिक मूल्यवान बन गये हैं। आगे हम उन्हीं की चर्चा करेंगे।

यह एक अनुभूत प्राकृतिक तथ्य है एक जीवन की अभिव्यक्ति और अवस्थिति दूसरे शब्दों में उसका जन्म, विकास और अस्तित्व दूसरे जीवनों के आश्रित है -- इससे हम इकार भी नहीं कर सकते हैं। किन्तु इस सत्य को समझने की जीवन-दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं। एक दृष्टिकोण यह रहा है कि यदि एक जीवन दूसरे जीवन पर आश्रित है तो हमें यह अधिकार है कि हम जीवन के दूसरे रूपों का विनाश करके भी हमारे अस्तित्व को बनाये रखें। पूर्व में 'जीवोजीवस्य भोजनम्' और पश्चिम में 'अस्तित्व के लिये संघर्ष' (Struggle for existence) के सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण के कारण अस्तित्व में आये। इनकी जीवन-दृष्टि हिंसक रही। इन्होंने विनाश से विकास का मार्ग चुना। आज पूर्व से पश्चिम तक इसी जीवन-दृष्टि का बोल-बाला है। जीवन के दूसरे रूपों का विनाश करके मानव के अस्तित्व को बचाने के प्रयत्न होते रहे हैं। किन्तु अब विज्ञान की सहायता से इस जीवन-दृष्टि का खोखलापन सिद्ध हो चुका है अब विज्ञान यह बताता है कि जीवन के दूसरे रूपों का अनवरत विनाश करके हम मानव का अस्तित्व भी नहीं बचा सकते हैं। इस सम्बन्ध में दूसरी जीवन दृष्टि यह रही कि एक जीवन, जीवन के दूसरे रूपों के सहयोग पर आधारित है-- जैनाचार्यों ने इसी जीवन-दृष्टि का उद्घोष किया था। आज से लगभग अठारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य उमास्वाति ने एक सूत्र प्रस्तुत किया -- 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'<sup>4</sup> अर्थात् जीवन एक दूसरे के सहयोग पर आधारित है। विकास का मार्ग हिंसा या विनाश नहीं परस्पर सहकार है। एक-दूसरे के पारस्परिक सहकार या सहयोग पर ही जीवन-यात्रा चलती है। जीवन के दूसरे रूपों के सहकारी बनकर ही हम अपना जीवन जी सकते हैं। प्राणी-जगत् पारस्परिक सहयोग पर आश्रित है। हमें अपना जीवन जीने के लिये दूसरे प्राणियों के सहयोग की और दूसरे प्राणियों को अपना जीवन जीने के लिये हमारे सहयोग की आवश्यकता है। हमें जीवन जीने (भोजन, प्राणवायु आदि) के लिये वनस्पति जगत् की आवश्यकता है तो वनस्पति को अपना जीवन जीने के लिये जल, वायु, खाद आदि की आवश्यकता है। वनस्पति से निम्न आकरीजन, फल, अन्न आदि से हमारा जीवन चलता है तो हमारे द्वारा निम्न कार्बनडाईआक्साईड एवं मल-मूत्र आदि से उनका जीवन चलता है। अतः जीवन जीने के लिये जीवन के दूसरे रूपों का सहयोग तो हम ले सकते हैं, किन्तु उनके विनाश का हमें अधिकार नहीं है, क्योंकि उनके विनाश

में हमारा भी विनाश निहित है। दूसरे की हिंसा वस्तुतः हमारी ही हिंसा है, इसलिये आचारांग में कहा गया था -- जिसे तू मारना चाहता है, वह तो तू ही है -- क्योंकि यह तो तेरे अस्तित्व का आधार है।<sup>5</sup> सहयोग लेना और दूसरों को सहयोग करना यही प्राणी जगत् की आदर्श स्थिति है। जीवन कभी भी दूसरों के सहयोग के बिना नहीं चलता है। जिसे हम दूसरों के सन्दर्भ में अपना अधिकार मानते हैं, वहीं दूसरों के प्रति हमारा कर्तव्य भी है। इसे हमें नहीं भूलना है। सर्वत्र जीवन की उपस्थिति की कल्पना, उसके प्रति अहिंसक दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि जैन आचार्यों ने जीवन के विविध रूपों की हिंसा और उनके दुरुपयोग को रोकने हेतु आचार के अनेक विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया। आगे हम जल प्रदूषण, वायुप्रदूषण, खाद्य-सामग्री के प्रदूषण से बचने के लिये जैनाचार्यों ने किन आचार नियमों का प्रतिपादन किया है, इसकी चर्चा करेंगे।

### जल प्रदूषण और जल-संरक्षण

जल को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये एवं उसके सीमित उपयोग के लिये जैन ग्रन्थों में अनेक निर्देश उपलब्ध हैं। यद्यपि, प्राचीन काल में ऐसे बड़े उद्योग नहीं थे, जिनसे बड़ी मात्रा में जल प्रदूषण हो, फिर भी जल में अल्प मात्रा में भी प्रदूषण न हो इसका ध्यान जैन परम्परा में रखा गया है। जैन परम्परा में प्राचीन काल से अवधारणा रही है कि नदी, तालाब, कुएँ आदि में प्रवेश करके स्नान, दातौन तथा मलमूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिये, क्योंकि जल में शारीरिक-मलों के उत्सर्ग के परिणामस्वरूप जो विजातीय तत्त्व जल में मिलते हैं, उनसे बहुतायत से जलीय जीवों की हिंसा होती है और जल प्रदूषित होता है। जैन परम्परा में आज भी यह लोकोक्ति है कि पानी का उपयोग घी से भी अधिक सावधानी से करना चाहिये। मुझे स्वयं वे दिन याद हैं, जब घी के गिरने पर उतनी प्रताड़ना नहीं मिलती थी, जितनी एक गिलास पानी के गिर जाने पर। आज से 20-25 वर्ष पूर्व तक जैन मुनि यह नियम या प्रतिज्ञा दिलाते थे कि नदी, कुएँ आदि में प्रवेश करके स्नान नहीं करना, स्नान में एक घड़े से अधिक जल का व्यय नहीं करना आदि। उनके ये उपदेश हमारी आज की उपभोक्ता संस्कृति को हास्यास्पद लगते हैं, किन्तु भविष्य में जो पीने योग्य पानी का संकट आने वाला है उसे देखते हुए, ये नियम कितने उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं, इसे कोई भी व्यक्ति सरलता से समझ सकता है। जैन परम्परा में मुनियों के लिये तो सचित्तजल (जीवन युक्त जल) के प्रयोग का ही निषेध है। जैन मुनि केवल उबला हुआ गर्म पानी या अन्य किन्हीं साधनों से जीवाणु रहित हुआ जल ही ग्रहण कर सकता है। सामान्य उपयोग के लिये वह ऐसा जल भी ले लेता है, जिसका उपयोग गृहस्थ कर चुका हो और उसे बेकार मानकर फेंक रहा हो। गृहस्थ उपासक के लिये भी जल के उपयोग से पूर्व उसका छानना और सीमित मात्रा में ही उसका उपयोग करना आवश्यक माना गया है। बिना छाना पानी पीना जैनों के लिए पापाचरण माना गया है। जल को छानना अपने को प्रदूषित जल ग्रहण से बचाना है और इस प्रकार वह स्वास्थ्य के संरक्षण का भी अनुपम साधन है। जल के अपव्यय का मुख्य कारण आज हमारी उपभोक्ता संस्कृति है। जल का मूल्य हमें इस लिये पता नहीं लगता है, कि प्रथम तो वह प्रकृति का निःशुल्क उपहार है दूसरे आज

नल की टोटी खोलकर हम उसे बिना परिश्रम के पा लेते हैं। यदि कुओं से स्वयं जल निकाल कर और उसे दूरी से घर पर लाकर इसका उपयोग करना हो तो जल का मूल्य क्या है, इसका हमें पता लगे। चाहे इस युग में जीवनोपयोगी सब वस्तुओं के मूल्य बढ़ें हों, किन्तु जल तो सस्ता ही हुआ है। जल का अपव्यय न हो इसलिये प्रथम आवश्यकता यह है कि हम उपभोक्ता संस्कृति से विमुख हो। जहाँ पूर्व काल में जंगल में जाकर मल विसर्जन, दातीन, स्नान आदि किया जाता, वहाँ जल का कितना कम उपयोग होता यह किसी से छिपा नहीं है। पुनः वह मल एवं जल भी जंगल के छोटे पौधों के लिये खाद व पानी के रूप में उपयोगी होता था। आज की पाँच सितारा होटलों की संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति पहले से पचास गुना अधिक जल का उपयोग करता है। जो लोग जंगल में मल-मूत्र विसर्जन एवं नदी किनारे स्नान करते थे उनका जल का वास्तविक व्यय दो लिटर से अधिक नहीं था और उपयोग किया गया जल भी या तो पौधों के उपयोग में आता था फिर मिट्टी और रेत से छनकर नदी में मिलता, किन्तु आज पाँच सितारा होटल में एक व्यक्ति कम से कम पाँच सौ लिटर जल का अपव्यय कर देता है। यह अपव्यय हमें कहाँ ले जायेगा, यह विचारणीय है।

### वायुप्रदूषण का प्रश्न

वायुप्रदूषण के प्रश्न पर भी जैन-आचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट था। यद्यपि प्राचीन काल में वे अनेक साधन, जो आज वायुप्रदूषण के कारण बने हैं, नहीं थे मात्र अधिक मात्रा में धूम उत्पन्न करने वाले व्यवसाय ही थे। धूम की अधिक मात्रा न केवल फलदार पेड़-पौधों के लिये अपितु अन्य प्राणियों और मनुष्यों के लिए किस प्रकार हानिकारक है, यह बात वैज्ञानिक गवेषणाओं और अनुभवों से सिद्ध हो गयी है। जैन आचार्यों ने उपासकदशासूत्र में जैन गृहस्थों के लिये स्पष्टतः उन व्यवसायों का निषेध किया है, जिनमें अधिक मात्रा में धूम उत्पन्न होकर वातावरण को प्रदूषित करता हो। वायुप्रदूषण का एक कारण फलों आदि को सड़ाकर उनसे शराब आदि मादक पदार्थ बनाने का व्यवसाय भी है। जिसका जैन गृहस्थ के लिए निषेध है। वायुप्रदूषण को रोकने और प्रदूषित वायु सूक्ष्म कीटाणुओं एवं रजकण से बचने के लिये जैनों में मुख वस्त्रिका बाँधने या रखने की जो परम्परा है, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि जैन आचार्य इस सम्बन्ध में कितने सजग थे कि प्रदूषित वायु और कीटाणु शरीर में मुख एवं नासिका के माध्यम से प्रवेश न करें और हमारा दूषित श्वास वायुप्रदूषण न करें।

पर्यावरण के प्रदूषण में आज धूम छोड़ने वाले वाहनों का प्रयोग भी एक प्रमुख कारण है। यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में यह बात हास्यास्पद लगेगी, कि हम पुनः बैलगाड़ी की दिशा में लौट जाये, किन्तु यदि वातावरण को प्रदूषण से मुक्त रखना है तो हमें हमारे नगरों और सड़कों को इस धूम प्रदूषण से मुक्त रखने का प्रयास करना होगा। जैन मुनि के लिये आज भी जो पदयात्रा करने और कोई भी वाहन प्रयोग नहीं करने का नियम है वह चाहे हास्यास्पद लगे, किन्तु पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने और मानव स्वास्थ्य की दृष्टि से वह कितना उपयोगी है, इसे झुठलाया नहीं जा सकता। आज की हमारी उपभोक्ता संस्कृति में हम एक ओर एक फर्लांग भी जाना हो तो वाहन की अपेक्षा रखते हैं तो दूसरी ओर डाक्टरों के

निर्देश पर प्रतिदिन पाँच-सात कि.मी. टहलते भी हैं। यह कैसी आत्मप्रवचना है, एक ओर समय की बचत के नाम पर वाहनों का प्रयोग करना तो दूसरी ओर प्रातःकालीन एवं सायंकालीन भ्रमणों में अपने समय का अपव्यय करना। यदि मनुष्य मध्यम आकार के शहरों तक अपने दैनान्दिन कार्यों में वाहन का प्रयोग न करें तो उससे दोहरा लाभ हो। एक ओर ईंधन एवं तत्सम्बन्धी खर्च बचे, तो दूसरी ओर पर्यावरण प्रदूषण से बचे। साथ ही उसका स्वास्थ्य भी अनुकूल रहेगा। प्रकृति की ओर लौटने की बात आज चाहे परम्परावादी लगती हो, किन्तु एक दिन ऐसा आयेगा जब यह मानव अस्तित्व की एक अनिवार्यता होगी। आज भी यू.एस.ए. जैसे विकसित देशों में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी है।

### वनस्पति जगत् और पर्यावरण

आचारांगसूत्र में वानस्पतिक जीवन की प्राणीय जीवन से तुलना करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार हम जीवन युक्त हैं और अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःखादि विविध संवेदनाओं की अनुभूति करते हैं, उसी प्रकार से वनस्पति जगत् आदि को भी अनुभूति होती है।<sup>6</sup> किन्तु जिस प्रकार एक अंधा, पांगु, मूक एवं बधिर व्यक्ति पीड़ा का अनुभव करते हुए भी उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाता है, उसी प्रकार वनस्पति आदि अन्य जीव-निकाय भी पीड़ा का अनुभव तो करते हैं किन्तु उसे व्यक्त करने में समर्थ नहीं होते। अतः व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य यही है कि वह उनकी हिंसा एवं उनके अनावश्यक दुरुपयोग से बचे। जिस प्रकार हमें अपना जीवन-जीने का अधिकार है उसी प्रकार उन्हें भी अपना जीवन-जीने का अधिकार है। अतः जीवन जहाँ कहीं भी और जिस किसी भी रूप में हो उनका सम्मान करना हमारा कर्तव्य है। प्रकृति की दृष्टि में एक पौधे का जीवन भी उतना ही मूल्यवान है, जितना एक मनुष्य का। पेड़-पौधे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने में जितने सहायक हैं, उतना मनुष्य नहीं है, वह तो पर्यावरण को प्रदूषित ही करता है। वृक्षों एवं वनों के संरक्षण तथा वनस्पति के दुरुपयोग से बचने के सम्बन्ध में भी प्राचीन जैन साहित्य में अनेक निर्देश हैं। जैन परम्परा में मुनि के लिए तो हरित-वनस्पति को तोड़ने व काटने की बात तो दूर उसे स्पर्श करने का भी निषेध था। गृहस्थ उपासक के लिये भी हरित वनस्पति के उपयोग को यथा शक्ति सीमित करने का निर्देश है। आज भी पर्व-तिथियों में हरित-वनस्पति नहीं खाने के नियम का पालन अनेक जैन गृहस्थ करते हैं। कंद और मूल का भक्षण जैन-गृहस्थ के लिए निषिद्ध ही है। इसके पीछे यह तथ्य रहा कि यदि मनुष्य जड़ों का ही भक्षण करेगा तो पौधों का अस्तित्व ही खतरे में हो जायेगा और उनका जीवन समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार से उस पेड़ को जिसका तना मनुष्य की बाँहों में न आ सकता हो, काटना मनुष्य की हत्या के बराबर दोष माना गया है। गृहस्थ उपासक के लिए जिन पन्द्रह निषिद्ध व्यवसायों का उल्लेख है उसमें वनों को काटना भी निषिद्ध है।<sup>7</sup> आचारांग में वनस्पति के शरीर की मानव शरीर से तुलना करके यही बतलाया गया है कि वनस्पति की हिंसा भी प्राणी हिंसा के समान है। इसी प्रकार वनों में आग लगाना, वनों को काटना आदि को गृहस्थ के लिए सबसे बड़ा पाप (महारम्भ) माना गया है, क्योंकि उसमें न केवल वनस्पति की हिंसा होती है, अपितु अन्य वन्य जीवों की भी हिंसा होती है और पर्यावरण प्रदूषित होता है। क्योंकि वन वर्षा और

पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के अनुपम साधन है।

### कीटनाशकों का प्रयोग

आज खेती में जो रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशक दवाओं का उपयोग बढ़ता जा रहा है वह भी हमारे भोजन में होने वाले प्रदूषण का कारण है। जैन परम्परा में गृहस्थ-उपासक के लिए खेती की अनुमति तो है, किन्तु किसी भी स्थिति में कीटनाशक दवाओं का उपयोग करने की अनुमति नहीं है, क्योंकि उससे छोटे-छोटे जीवों की उद्देश्य पूर्ण हिंसा होती है, जो उसके लिए निषिद्ध है। इसी प्रकार गृहस्थ के लिए निषिद्ध पन्ड्रह व्यवसायों में विशैले पदार्थ का व्यवसाय भी वर्जित है।<sup>8</sup> अतः वह न तो कीटनाशक दवाओं का प्रयोग कर सकता है और न ही उनका क्रय-विक्रय कर सकता है। महाराष्ट्र के एक जैन किसान ने प्राकृतिक पत्तों, गोबर आदि की खाद से तथा कीटनाशकों के उपयोग बिना ही अपने खेतों में रिकार्ड उत्पादन करके सिद्ध कर दिया है कि रासायनिक उर्वरकों के उपयोग न तो आवश्यक है और न ही वांछनीय, क्योंकि इससे न केवल पर्यावरण का संतुलन भंग होता है और वह प्रदूषित होता है, अपितु हमारे खाद्यान्न भी विषयुक्त बनते हैं जो हमारे स्वास्थ्य के लिये हानिकर होते हैं।

### रात्रिभोजन निषेध और प्रदूषणमुक्तता

इसी प्रकार जैन परम्परा में जो रात्रिभोजन निषेध की मान्यता है<sup>9</sup>, वह भी प्रदूषण मुक्तता की दृष्टि से एक वैज्ञानिक मान्यता है, जिससे प्रदूषित आहार शरीर में नहीं पहुंचता और स्वास्थ्य की रक्षा होती है। सूर्य के प्रकाश में जो भोजन पकाया और खाया जाता है वह जितना प्रदूषण मुक्त एवं स्वास्थ्य-वर्द्धक होता है, उतना रात्रि के अंधकार या कृत्रिम प्रकाश में पकाया गया भोजन नहीं होता है। यह तथ्य न केवल मनो-कल्पना है, बल्कि एक वैज्ञानिक सत्य है। जैनों ने रात्रिभोजन-निषेध के माध्यम से पर्यावरण और मानवीय स्वास्थ्य दोनों के संरक्षण का प्रयत्न किया है। दिन में भोजन पकाना और खाना उसे प्रदूषण से मुक्त रखना है, क्योंकि रात्रि में एवं कृत्रिम प्रकाश में भोजन में विषाक्त सूक्ष्म प्राणियों के गिरने की सम्भावना प्रबल होती है, पुनः देर रात में किये गये भोजन का परिपाक भी सम्यक् रूपेण नहीं होता है।

### शिकार और मांसाहार

आज जो पर्यावरण का संकट बढ़ता जा रहा है उसमें वन्य-जीवों और जलीय-जीवों का शिकार भी एक कारण है। आज जलीय जीवों की हिंसा के कारण जल में प्रदूषण बढ़ता है। यह तथ्य सुस्पष्ट है कि मछलियाँ आदि जलीय-जीवों का शिकार जल-प्रदूषण का कारण बनता जा रहा है। इसी प्रकार कीट-पतंग एवं वन्य-जीव भी पर्यावरण के सन्तुलन का बहुत बड़ा आधार है। आज एक ओर वनों के कट जाने से उनके संरक्षण के क्षेत्र समाप्त होते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर फर, चमड़े, मांस आदि के लिए वन्य-जीवों का शिकार बढ़ता जा रहा है। जैन परम्परा में कोई व्यक्ति तभी प्रवेश पा सकता है जबकि वह शिकार व मांसाहार नहीं करने का व्रत लेता है। शिकार व मांसाहार नहीं करना जैन गृहस्थ धर्म में प्रवेश की प्रथम शर्त है। मत्स्य, मांस, अण्डे एवं शहद का निषेध कर जैन आचार्यों ने जीवों के संरक्षण के लिए भी

प्राचीन काल से ही महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये हैं।

### रासायनिक शस्त्रों का प्रयोग

आज विश्व में आणविक एवं रासायनिक शस्त्रों में वृद्धि हो रही है और उनके परीक्षणों तथा युद्ध में उनके प्रयोगों के माध्यम से भी पर्यावरण में असंतुलन उत्पन्न होता है तथा वह प्रदूषित होता है। इनका प्रयोग न केवल मानवजाति के लिए, अपितु समस्त प्राणि-जाति के अस्तित्व के लिए खतरा है। आज शस्त्रों की इस अंधी दौड़ में हम न केवल मानवता की, अपितु इस पृथ्वी पर प्राणी-जगत् की अन्त्येष्टि हेतु चिंता तैयार कर रहे हैं। भगवान महावीर ने इस सत्य को पहले ही समझ लिया था कि यह दौड़ मानवता की सर्व विनाशक होगी। आचारांग में उन्होंने कहा -- 'अत्थि सत्थं परेणपरं-नत्थि असत्थं परेणपरं'<sup>10</sup> अर्थात् शस्त्रों में एक से बढ़कर एक हो सकते हैं, किन्तु अशस्त्र (अहिंसा) से बढ़कर कुछ नहीं है। निःशस्त्रीकरण का यह आदेश आज कितना सार्थक है यह बतलाना आवश्यक नहीं है। यदि हमें मानवता के अस्तित्व की चिन्ता है तो पर्यावरण के सन्तुलन का ध्यान रखना हांगा एवं आणविक तथा रासायनिक शस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाना होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म में पर्यावरण के संरक्षण के लिए पर्याप्त रूप से निर्देश उपलब्ध है। उसकी दृष्टि में प्राकृतिक साधनों, असीम दानन जिनमें बड़ी मात्रा में भू-खनन, जल-अवशोषण, वायुप्रदूषण, वनों के काटने आदि के कार्य होते हैं, वे महारम्भ की कोटि में आते हैं, जिसको जैनधर्म में नरक-गति का कारण बताया गया है। जैनधर्म का संदेश है प्रकृति एवं प्राणियों का विनाश करके नहीं, अपितु उनका सहयोगी बनकर जीवन-जीना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। प्रकृति विजय के नाम पर हमने जो प्रकृति के साथ अन्याय किया है, उसका दण्ड हमारी सन्तानों को न भुगतना पड़े इसलिए आवश्यक है कि हम न केवल वन्य प्राणियों, पेड़-पौधों, अपितु जल, प्राणवायु, जीवन-ऊर्जा (अग्नि) और जीवन अधिष्ठान (पृथ्वी) के साथ भी सहयोगी बनकर जीवन जीना सीखें, उनके संहारक बनकर नहीं, क्योंकि उनका संहार प्रकारान्तर से अपना ही संहार है।

जैन आचार्यों की पर्यावरण के प्रति विशेष रूप से वनस्पति जगत् के प्रति कितनी सजगता रही है, इसका पता इस तथ्य से चलता है कि उन्होंने अपने प्रत्येक तीर्थंकर के साथ एक चैत्य-वृक्ष को जोड़ दिया और इस प्रकार वे चैत्य-वृक्ष भी जैनों के लिए प्रतीक रूप पूज्य बन गये। समवायांगसूत्र के अनुसार तीर्थंकरों के चैत्यवृक्षों की सूची इस प्रकार है<sup>11</sup> --

- |                         |                           |
|-------------------------|---------------------------|
| 1. ऋषभ -- न्यग्रोध (वट) | 7. सुपार्श्व -- शिरीष     |
| 2. अजित -- सप्तपर्ण     | 8. चन्द्रप्रभ -- नागवृक्ष |
| 3. संभव -- शाल          | 9. पुण्यदन्त -- गाली      |
| 4. अभिनन्दन -- प्रियाल  | 10. शीतल -- पिल्लखुवृक्ष  |
| 5. सुमति -- प्रियंगु    | 11. श्रेयान्स -- तिन्दुक  |
| 6. पद्मप्रभ -- छत्राह   | 12. वासुपूज्य -- पाटल     |

- |                               |                                    |
|-------------------------------|------------------------------------|
| 13. विमल -- जम्बु             | 19. मल्ली -- अशोक                  |
| 14. अनन्त -- अश्वत्थ ( पीपल ) | 20. मुनिसुव्रत -- चम्पक            |
| 15. धर्म -- दधिपर्ण           | 21. नमि -- बकुल                    |
| 16. शान्ति -- नन्दीवृक्ष      | 22. नेमि -- वेत्रसवृक्ष            |
| 17. कुन्थु -- तिलक            | 23. पार्श्व -- घातकीवृक्ष          |
| 18. अर -- आम्रवृक्ष           | 24. महावीर ( वर्धमान ) -- शालवृक्ष |

इस प्रकार हम यह भी देखते हैं कि जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अशोक वृक्ष की छाया में बैठकर ही अपना उपदेश देते हैं इससे भी उनकी प्रकृति और पर्यावरण के प्रति सजगता प्रगट होती है। प्राचीनकाल में जैन मुनियों को वनों में ही रहने का निर्देश था, फलतः वे प्रकृति के अति निकट होते थे। कालान्तर जब कुछ जैन मुनि घैत्यों या बस्तियों में रहने लगे तो उनके दो विभाग हो गये --

### 1. घैत्यवासी      2. वनवासी

किन्तु इसमें भी घैत्यवासी की अपेक्षा वनवासी मुनि ही अधिक आदरणीय बने। जैन परम्परा में वनवास को सदैव ही आदर की दृष्टि से देखा गया।

इसीप्रकार हम यह भी हैं कि जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं को एक-दूसरे से पृथक् करने के लिए जिन प्रतीक चिन्हों ( लाङ्गनों ) को प्रयोग किया गया है उनमें भी वन्य जीवों या जल-जीवों को ही प्राथमिकता मिली है। यथा --

तीर्थंकर -- लाङ्गन	विमल -- वराह
ऋषभ -- बैल	अनन्त -- श्येनपक्षी
अजित -- गज	अनन्त -- रीछ
सम्भव -- अश्व	शान्तिनाथ -- मृग
अभिनन्दन -- कपि	कुन्थु -- ह्याग
सुमतिनाथ -- कौच	सुद्रत -- कूर्म
पुष्पदंत -- मकर	पार्श्वनाथ -- सर्प
वासुपूज्य -- महिष	महावीर -- सिंह

इन सभी तथ्यों से यह फलित है कि जैन आचार्य प्रकृति और पर्यावरण के प्रति सजग रहे हैं तथा उनके द्वारा प्रतिपादित आचार सम्बन्धी विधिनिषेध पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त रखने में पर्याप्त रूप से सहायक है।



1. तं परिणाय मेहावी णेव संय ह्रज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभेज्जा,  
णेवण्णेहिं ह्रज्जीव-णिकाय-सत्थं समारभावेज्जा, णेवण्णे  
ह्रज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभति समणुजाणेज्जा ।  
- आयारो, आचार्य तुलसी, १/१७६
2. से बेमि -- संति पाणा उदय-निस्सिया जीवा अणेगा ।  
- आयारो, आचार्य तुलसी, 1/54
3. देखिये -- आयारो, द्वितीय उद्देशक से सप्तम उद्देशक तक
4. परस्परोपग्रहो जीवानाम्, तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 5/21
5. तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'हंतत्वं' ति मन्नसि,  
तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि,  
तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'परितावेयव्वं' ति मन्नसि,  
तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि,  
तुमंसि नाम सच्चवेव जं 'उद्दवेयव्वं' ति मन्नसि ।  
- आयारो, 5/10
6. वणस्सइजीवाणं माणुस्सेण तुलणा पदं  
से बेमि -- इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं ।  
इमंपि बुद्धिधम्मयं, एयंपि बुद्धिधम्मयं ।  
इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं ।  
इमंपि छिन्नं मिलाति, एयंपि छिन्नं मिलाति ।  
इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं ।  
इमंपि अणिच्चयं, एयंपि अणिच्चयं ।  
इमंपि असासयं, एयंपि असासयं ।  
इमंपि चयावचइयं, एयंपि चयावचइयं ।  
इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं ।  
- आयारो, सं. आचार्य तुलसी, 1/32
7. तं जहा -- इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे,  
लक्खावाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, केस्सवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे,  
निल्लंछणकम्मे, दवगिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईजणपोसणया ।  
- उपासकदशारसूत्र, सं. मधुकर मुनि, 1/5
8. वही, 1/5
9. से वारिया इत्थि सरायभत्तं ।  
- सूत्रकृतांगसूत्र, मधुकरमुनि, 1/6/379
10. समवायांगसूत्र. मधुकरमुनि. परिशिष्ट 646 .

# जैनधर्म और सामाजिक समता

## (वर्ण एवं जाति व्यवस्था के विशेष सन्दर्भ में)

- प्रो. सागरमल जैन

मानव समाज में स्त्री-पुरुष, सुन्दर-असुन्दर, बुद्धिमान-मूर्ख, आर्य-अनार्य, कुलीन-अकुलीन, स्पर्श्य-अस्पर्श्य, धनी-निर्धन आदि के भेद प्राचीनकाल से ही पाये जाते हैं। इनमें कुछ भेद तो नैसर्गिक हैं और कुछ मानव सृजित। ये मानव सृजित भेद ही सामाजिक विषमता के कारण हैं। यह सत्य है कि सभी मनुष्य, सभी बातों में एक दूसरे से समान नहीं होते, उनमें रूप-सौन्दर्य, धन-सम्पदा, बौद्धिक-विकास, कार्य-क्षमता, व्यवसायिक-योग्यता आदि के दृष्टि से विषमता या तरतमता होती है। किन्तु इन विषमताओं या तरतमताओं के आधार पर अथवा मानव समाज के किसी व्यक्ति विशेष को वर्ग-विशेष में जन्म लेने के आधार पर निम्न, पतित, दलित या अस्पर्श्य मान लेना उचित नहीं है। यह सत्य है कि मनुष्यों में विविध दृष्टियों से विभिन्नता या तरतमता पायी जाती है और वह सदैव बनी भी रहेगी, किन्तु इस मानव समाज में वर्ग-भेद या वर्ण-भेद का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही पिता के दो पुत्रों में ऐसी भिन्नता या तरतमता देखने में आती है। हम यह भी देखते हैं कि जो व्यक्ति गरीब होता है, वही कालक्रम में धनवान या सम्पत्तिशाली हो जाता है। एक मूर्ख पिता का पुत्र भी बुद्धिमान अथवा प्राज्ञ हो सकता है। एक पिता के दो पुत्रों में एक बुद्धिमान तो दूसरा मूर्ख अथवा एक सुन्दर तो दूसरा कुरूप हो सकता है। अतः इस प्रकार की तरतमताओं के आधार पर मनुष्यों को सदैव के लिए मात्र जन्मना आधार पर विभिन्न वर्गों या वर्णों में बाँट कर नहीं रखा जा सकता है। चाहे वह धनोपार्जन हेतु चयनित विभिन्न व्यावसायिक क्षेत्र हो, चाहे कला, विद्या अथवा साधना के क्षेत्र हो, हम मानव समाज के किसी एक वर्ग विशेष को जन्मना आधार पर उसका ठेकेदार नहीं मान सकते हैं। यह सत्य है कि नैसर्गिक योग्यताओं एवं कार्यों के आधार पर मानव समाज में सदैव ही वर्गभेद या वर्णभेद बने रहेंगे, फिर भी उनका आधार वर्ग या जाति विशेष में जन्म न होकर व्यक्ति की अपनी स्वाभाविक योग्यता के आधार पर अपनाये गये व्यवसाय या कार्य होंगे। व्यवसाय या कर्म के सभी क्षेत्र सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से खुले होने चाहिए और किसी भी वर्ग विशेष में जन्मे व्यक्ति को भी किसी भी क्षेत्र विशेष में प्रवेश पाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिये -- यही सामाजिक समता का आधार है। यह सत्य है मानव समाज में सदैव ही कुछ शासक या अधिकारी और कुछ शासित या कर्मचारी होंगे, किन्तु यह अधिकार कभी मान्य नहीं हो सकता कि अधिकारी का अयोग्य पुत्र शासक और कर्मचारी या शासित का योग्य पुत्र शासित ही बना रहे। सामाजिक समता का तात्पर्य यह नहीं है कि मानव समाज में कोई भिन्नता या तरतमता ही नहीं हो। उसका तात्पर्य है

मानव समाज के सभी सदस्यों को विकास के समान अवसर उपलब्ध हो तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता और योग्यता के आधार पर अपना कार्य क्षेत्र निर्धारित कर सके। इस सामाजिक समता के सन्दर्भ में जहाँ तक जैन आचार्यों के चिन्तन का प्रश्न है, उन्होंने मानव में स्वाभाविक योग्यता जन्य अथवा पूर्व कर्म-संस्कार जन्य तरतमता को स्वीकारते हुए भी यह माना है कि चाहे विद्या का क्षेत्र हो, चाहे व्यवसाय या साधना का उसमें प्रवेश का द्वार सभी के लिए बिना भेद-भाव के खुले रहना चाहिए। जैन धर्म स्पष्ट रूप से इस बात को मानता है कि किसी जाति या वर्ण-विशेष में जन्म लेने से कोई व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं होता। उसे जो हीन या श्रेष्ठ बनाता है, वह है उसका अपना पुरुषार्थ, उसकी अपनी साधना, सदाचार और कर्म। हम जैनों के इसी दृष्टिकोण को अग्रिम पृष्ठों में सप्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

### जन्मना वर्ण-व्यवस्था एक असमीचीन अवधारणा

जैन आचार्य श्रुति के इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की बाहु से, वैश्यों की जंघा से और शूद्र की पैरों से हुई है। चूँकि मुख श्रेष्ठ अंग है, अतः इन सबमें ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है।<sup>1</sup> ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अंगों से जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ऐसी वर्ण-व्यवस्था जैन चिन्तकों को स्वीकार नहीं है। उनका कहना है कि सभी मनुष्य स्त्री-योनि से ही उत्पन्न होते हैं। अतः सभी समान है।<sup>2</sup> पुनः इन अंगों में से किसी को श्रेष्ठ एवं उत्तम और किसीनेनिकृष्ट या हीन मानकर वर्ण-व्यवस्था में श्रेष्ठता एवं हीनता का विधान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शरीर के सभी अंग समान महत्त्व के हैं। इसी प्रकार शारीरिक वर्णों की भिन्नता के आधार पर किया गया ब्राह्मण आदि जातियों का वर्गीकरण भी जैनों को मान्य नहीं है।

आचार्य जटासिंह नन्दि ने अपने वराग-चरित में इस बात का विस्तार से विवेचन किया है कि शारीरिक विभिन्नताओं या वर्णों के आधार पर किया जाने वाला जाति सम्बन्धी वर्गीकरण मात्र पशु-पक्षी आदि के विषय में ही सत्य हो सकता है, मनुष्यों के सन्दर्भ में नहीं। वनस्पति एवं पशु-पक्षी आदि में जाति का विचार सम्भव है, किन्तु मनुष्य के विषय में यह विचार संभव नहीं है, क्योंकि सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों की एक ही जाति है। न तो सभी ब्राह्मण शुभ वर्ण के होते हैं, न सभी क्षत्रिय रक्त वर्ण, न सभी वैश्य पीत वर्ण के और न सभी शूद्र कृष्ण वर्ण के होते हैं। अतः जन्म के आधार पर जाति व वर्ण का निश्चय सम्भव नहीं है।<sup>3</sup>

समाज में ऊँच-नीच का आधार किसी वर्ण विशेष या जाति विशेष में जन्म लेना नहीं माना जा सकता। न केवल जैन परम्परा, अपितु हिन्दू परम्परा में भी अनेक उदाहरण हैं जहाँ निम्न वर्णों से उत्पन्न व्यक्ति भी अपनी प्रतिभा और आचार के आधार पर श्रेष्ठ कहलाये। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए वराग-चरित<sup>4</sup> में जटासिंह नन्दि कहते हैं कि "जो ब्राह्मण स्वयं राजा की कृपा के आकांक्षी हैं और उनके द्वारा अनुशासित होकर उनके अनुग्रह की अपेक्षा रखते हैं, ऐसे दीन ब्राह्मण नृपों (क्षत्रियों) से कैसे श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। द्विज ब्रह्मा के मुख से निर्गत हुए अतः श्रेष्ठ हैं -- यह वचन केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए

कहा गया है। ब्राह्मण प्रतिदिन राजाओं की स्तुति करते हैं और उनके लिए स्वस्ति पाठ एवं शान्ति पाठ करते हैं, लेकिन वह सब भी धन की आशा से ही किया जाता है, अतः ऐसे ब्राह्मण प्राप्तकाम नहीं माने जा सकते हैं। फलतः इनका अपनी श्रेष्ठता का दावा मिथ्या है। जिस प्रकार नट रंगशाला में कार्य स्थिति के अनुरूप विचित्र वेशभूषा को धारण करता है उसी प्रकार यह जीव भी संसार स्वी रंगमंच पर कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों को प्राप्त होता है। तत्त्वतः आत्मा न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र ही। वह तो अपने ही पूर्व कर्मों के वश में होकर संसार में विभिन्न रूपों में जन्म ग्रहण करता है। यदि शरीर के आधार पर ही किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय कहा जाय, तो यह भी उचित नहीं है। विज्ञ-जन देह को नहीं, ज्ञान (योग्यता) को ही ब्रह्म कहते हैं। अतः निकृष्ट कहा जाने वाला शूद्र भी ज्ञान या प्रज्ञा-क्षमता के आधार पर वेदाध्ययन करने का पात्र हो सकता है। विद्या, आचरण एवं सद्गुण से रहित व्यक्ति जाति विशेष में जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण नहीं हो जाता, अपितु अपने ज्ञान, सद्गुण आदि से युक्त होकर ही ब्राह्मण होता है। व्यास, वशिष्ठ, कमठ, कंठ, द्रोण, पाराशर आदि अपने जन्म के आधार पर नहीं, अपितु अपने सदाचरण एवं तपस्या से ही ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे। अतः ब्राह्मणत्व आदि सदाचार और कर्तव्यशीलता पर आधारित है -- जन्म पर नहीं।

## सच्चा ब्राह्मण कौन ?

जैन परम्परा ने सदाचरण को ही मानवीय जीवन में उच्चता और निम्नता का प्रतिमान माना है। उत्तराध्ययन सूत्र के पट्टीसवें अध्याय एवं धम्म-पद के ब्राह्मण वर्ग नामक अध्याय में सच्चा ब्राह्मण कौन है, इसका विस्तार से विवेचन उपलब्ध है। विस्तार भय से उसकी समग्र चर्चा में न जाकर केवल कुछ गाथाओं को प्रस्तुत कर ही विराम लेंगे। उसमें कहा गया है कि "जिसे लोक में कुशल पुरुषों ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि के समान सदा पूजनीय है और जो प्रियजनों के आने पर आसक्त नहीं होता और न उनके जाने पर शोक करता है। जो सदा आर्य-वचन में रमण करता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।"

"कसौटी पर कसे हुए और अग्नि के द्वारा दग्धमल हुए, शुद्ध किये गए जात रूप सोने की तरह जो विशुद्ध है, जो राग द्वेष और भय से मुक्त है, तथा जो तपस्वी है, कृश है, दान्त है, जिसका मांस और रक्त अपचित (कम) हो गया है, जो सुव्रत है, शांत है, उसे ही ब्राह्मण कहा जाता है।"

"जो त्रस और स्थावर जीवों को सम्यक् प्रकार से जानकर उनकी मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करता है, जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय से झूठ नहीं बोलता, जो सचित्त या अचित्त, थाड़ा या अधिक अदत्त नहीं लेता है, जो देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से सेवन नहीं करता है, जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो कामभोगों से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

इसी प्रकार जो रसादि में लोलप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है,

जो गृह त्यागी है, जो अंकिचन है, पूर्वज्ञातिजनों एवं बन्धु-बान्धवों में आसक्त नहीं रहता है, उसे ही ब्राह्मण कहते हैं।<sup>5</sup>

धम्मपद में भी कहा गया है कि "जैसे कमल पत्र पर पानी होता है, जैसे आरे की नोक पर सरसों का दाना होता है, वैसे ही जो कामों में लिप्त नहीं होता, जिसने अपने दुःखों के क्षय को यहीं पर देख लिया है, जिसने जन्म-मरण के भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनासक्त है, जो मेधावी है, स्थितप्रज्ञ है, जो सन्मार्ग तथा कुमार्ग को जानने में कुशल है और जो निर्वाण की उत्तम स्थिति को पहुँच चुका है -- उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।"<sup>6</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं ने ही सदाचार के आधार पर ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता का स्वीकार करते हुए, ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की, जो सदाचार और सामाजिक समता की प्रतिष्ठापक थी। न केवल जैन परम्परा एवं बौद्ध-परम्परा में, वरन् महाभारत में भी ब्राह्मणत्व की यही परिभाषा है। जैन परम्परा के उत्तराध्ययन-सूत्र, बौद्ध-परम्परा के धम्मपद और महाभारत के शान्तिपर्व में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण मिलता है, वह न केवल वैचारिक साम्यता रखता है, वरन् उसमें शाब्दिक साम्यता भी अधिक है, जो कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सच्चा ब्राह्मण कौन है ? इस विषय में 'कुमारपाल प्रबोध-प्रबन्ध' में मनुस्मृति एवं महाभारत से कुछ श्लोक उद्धृत करके यह बताया गया है कि -- "शील सम्पन्न शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाता है और सदाचार रहित ब्राह्मण भी शूद्र के समान हो जाता है। अतः सभी जातियों में चाण्डाल और सभी जातियों में ब्राह्मण होते हैं। हे अर्जुन ! जो ब्राह्मण कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा एवं राज्य की सेवा करते हैं, वे वस्तुतः ब्राह्मण नहीं हैं। जो भी द्विज हिंसक, असत्यवादी, चौर्यकर्म में लिप्त, परदार सेवी हैं। वे सभी पतित (शूद्र) हैं। इसके विपरीत ब्रह्मचर्य और तप से युक्त लौह व रवर्ण में समान भाव रखने वाले, प्राणियों के प्रतिदयावान सभी जाति के व्यक्ति ब्राह्मण ही हैं।"

सच्चे ब्राह्मण के लक्षण बताते हुए कहा गया है -- "जो व्यक्ति क्षमाशील आदि गुणों से युक्त हो, जिसने सभी दण्डों (परपीडन) का परित्याग कर दिया है, जो निरामिष-भोजी है और किसी भी प्राणि की हिंसा नहीं करता -- यह किसी व्यक्ति के ब्राह्मण होने का प्रथम लक्षण है। इसी प्रकार जो कभी असत्य नहीं बोलता, मिथ्यावचनों से दूर रहता है -- यह ब्राह्मण का द्वितीय लक्षण है। पुनः जिसने परद्रव्य का त्याग कर दिया है तथा जो अदत्त को ग्रहण नहीं करता, यह उसके ब्राह्मण होने का तृतीय लक्षण है। जो देव, असुर, मनुष्य तथा पशुओं के प्रति मैथुन का सेवन नहीं करता -- वह उसके ब्राह्मण होने का चतुर्थ लक्षण है। जिसने कुटुम्ब का वास अर्थात् गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया हो, जो परिग्रह और आसक्ति से रहित है, यह ब्राह्मण होने का पंचम लक्षण है। जो इन पाँच लक्षणों से युक्त है वही ब्राह्मण है, द्विज है और महान है, शेष तो शूद्रवत् है। केवट की पुत्री के गर्भ से उत्पन्न व्यास नामक महामुनि हुए हैं। इसी प्रकार हरिणी के गर्भ से उत्पन्न श्रृंग ऋषि, शुनकी के गर्भ से शुक, माण्डूकी के गर्भ से मांडव्य तथा उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न वशिष्ठ महामुनि हुए। न तो इन सभी

ऋषियों की माता ब्राह्मणी हैं, न ये संस्कार से ब्राह्मण हुए थे; अपितु ये सभी तप साधना या सदाचार से ब्राह्मण हुए हैं। इसलिए ब्राह्मण होने में जाति विशेष में जन्म कारण नहीं है, अपितु तप या सदाचार ही कारण है।<sup>7</sup>

### कर्मणा वर्ण-व्यवस्था जैनों को भी स्वीकार्य

जैन परम्परा में वर्ण का आधार जन्म नहीं, अपितु कर्म माना गया है। जैन विचारणा जन्मना जातिवाद की विरोधी है, किन्तु कर्मणा वर्णव्यवस्था से उसका कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र<sup>8</sup> में कहा गया है कि -- "मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय एवं कर्म से ही वैश्य एवं शूद्र होता है। महापुराण में कहा गया है कि जातिनाम कर्म के उदय से तो मनुष्य जाति एक ही है। फिर भी आजीविका भेद से वह चार प्रकार की कही गई है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रों को धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक अर्थ का उपार्जन करने से वैश्य और निम्न श्रेणी की आजीविका का आश्रय लेने से शूद्र कहे जाते हैं। धन-धान्य आदि सम्पत्ति एवं मकान मिल जाने पर गुरु की आज्ञा से अलग से आजीविका अर्जन करने से वर्ण की प्राप्ति या वर्ण लाभ होता है [38/45-46,137]। इस का तात्पर्य यही है कि वर्ण या जाति सम्बन्धी भेद जन्म पर नहीं, आजीविका या वृत्ति पर आधारित है। भारतीय वर्ण व्यवस्था के पीछे एक मनोवैज्ञानिक आधार रहा है कि वह वैयक्तिक- योग्यता अर्थात् स्वभाव के आधार पर ही व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों (कर्मों) का निर्धारण करती है। जिससे इंकार नहीं किया जा सकता है।

अपनी स्वाभाविक योग्यता के आधार पर सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने का सर्म्थन डॉ. राधाकृष्णन् और पाश्चात्य विचारक श्री गैरल्ड हर्ड ने भी किया है।<sup>10</sup> मानवीय स्वभाव में ज्ञानात्मकता या जिज्ञासा- वृत्ति, साहस या नेतृत्व-वृत्ति, संग्रहात्मकता और शासित होने की प्रवृत्ति या सेवा भावना पायी जाती है। सामान्यतः मनुष्यों में इन वृत्तियों का समान रूप से विकास नहीं होता है। प्रत्येक मनुष्य में इनमें से किसी एक का प्रधान्य होता है। दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से समाज-व्यवस्था में चार-प्रमुख कार्य हैं -- 1. शिक्षण 2. रक्षण 3. उपार्जन और 4. सेवा। अतः यह आवश्यक माना गया है कि व्यक्ति अपने स्वभाव में जिस वृत्ति का प्रधान्य हो, उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था में अपना कार्य चुने। जिसमें बुद्धि नैर्मल्य और जिज्ञासावृत्ति हो, वह शिक्षण का कार्य करे, जिसमें साहस और नेतृत्व वृत्ति हो वह रक्षण का कार्य करे, जिसमें विनियोग तथा संग्रह-वृत्ति हो वह उपार्जन का कार्य करे और जिसमें दैन्यवृत्ति या सेवावृत्ति हो वह सेवा कार्य करे। इस प्रकार जिज्ञासा, नेतृत्व, विनियोग और दैन्य की स्वाभाविक वृत्तियों के आधार पर शिक्षण, रक्षण उपार्जन और सेवा के सामाजिक कार्यों का विभाजन किया गया और इसी आधार पर क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण बने। अतः वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं, अपितु स्वभाव (गुण) एवं तदनुसार कर्म पर आधारित है।

वास्तव में हिन्दू आचार-दर्शन में भी वर्ण-व्यवस्था जन्म पर नहीं, वरन् कर्म पर ही

आधारित है। गीता में श्री कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि "चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण गुण और कर्म के आधार पर ही किया गया है।"<sup>11</sup> डॉ. राधाकृष्णन, इसकी व्याख्या में लिखते हैं, "यहाँ जोर गुण और कर्म पर दिया गया है, जाति (जन्म) पर नहीं। हम किस वर्ण के हैं, यह बात लिंग या जन्म पर निर्भर नहीं है अपितु स्वभाव और व्यवसाय द्वारा निर्धारित होती है।"<sup>12</sup> युधिष्ठिर कहते हैं, "तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में केवल आचरण (सदाचार) ही जाति का निर्धारक तत्त्व है। ब्राह्मण न जन्म से होता है, न संस्कार से, न कुल से और न वेद के अध्ययन से, ब्राह्मण केवल व्रत (आचरण) से होता है।"<sup>13</sup>

प्राचीनकाल में वर्ण-व्यवस्था कठोर नहीं थी, अपितु लचीली थी। वर्ण परिवर्तन का अधिकार व्यक्ति के अपने हाथ में था, क्योंकि आचरण या कर्म के चयन द्वारा परिवर्तित हो जाता था। उपनिषदों में वर्णित सत्यकाम जाबाल की कथा इसका उदाहरण है। सत्यकाम जाबाल की सत्यवादिता के आधार पर ही उसे ब्राह्मण मान लिया गया था।<sup>14</sup> मनुस्मृति में भी वर्ण परिवर्तन का विधान है, उसमें लिखा है कि सदाचार के कारण शूद्र ब्राह्मण हो जाते हैं और दुराचार के कारण ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में भी है।<sup>15</sup> आध्यात्मिक दृष्टि से कोई एक वर्ण दूसरे वर्ण से श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक विकास वर्ण पर निर्भर नहीं होता है। व्यक्ति स्वभावानुकूल किसी भी वर्ण के नियत कर्मों का सम्पादन करते हुए आध्यात्मिक पूर्णता या सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

**कोई भी कर्तव्य कर्म-हीन नहीं है**

समाज व्यवस्था में अपने कर्तव्य के निर्वाह हेतु और आजीविका के उपार्जन हेतु व्यक्ति को कौन सा व्यवसाय या कर्म चुनना चाहिए, यह बात उसकी योग्यता अथवा स्वभाव पर ही निर्भर करती है। यदि व्यक्ति अपने गुणों या योग्यताओं के प्रतिकूल व्यवसाय या सामाजिक कर्तव्य को चुनता है, तो उसके इस चयन से जहाँ उसके जीवन की सफलता धूमिल होती है वहीं समाज-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त होती है। आध्यात्मिक श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर नहीं है कि व्यक्ति क्या कर रहा है या किन सामाजिक कर्तव्यों का पालन कर रहा है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि वह उनका पालन किस निष्ठा और योग्यता के साथ कर रहा है। यदि एक शूद्र अपने कर्तव्यों का पालन पूर्ण निष्ठा और कुशलता से करता है, तो वह अनैष्ठिक और अकुशल ब्राह्मण की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। गीता भी स्पष्टतया यह स्वीकार करती है कि व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से स्वस्थान के निम्नस्तरीय कर्मों का सम्पादन करते हुए भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ऊँचाइयों पर पहुँच सकता है। विशिष्ट सामाजिक कर्तव्यों के परिपालन से व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं बन जाता है, उसकी श्रेष्ठता और हीनता का सम्बन्ध तो उसके सदाचरण एवं आध्यात्मिक विकास से है। दिगम्बर जैन आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं -- सम्यक्-दर्शन से युक्त चाण्डाल शरीर में उत्पन्न व्यक्ति भी तीर्थंकरों के द्वारा ब्राह्मण ही कहा गया है।<sup>15</sup>

इसी प्रकार आचार्य रविषेण भी पद्मचरित में लिखते हैं कि -- कोई भी जाति गर्हित नहीं

है वस्तुतः गुण ही कल्याण कारक होते हैं। जाति से कोई व्यक्ति चाहे चाण्डाल कुल में ही उत्पन्न क्यों न हो, व्रत में स्थित होने पर ऐसे चाण्डाल को भी तीर्थकरों ने ब्राह्मण ही कहा है।<sup>17</sup> अतः ब्राह्मणत्व जन्म पर नहीं कर्म/सदाचार पर आधारित है।

जैन मुनि चौथमल जी निर्ग्रन्थ प्रवचन भाष्य<sup>17</sup> में लिखते हैं कि " एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञानी व प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण में जन्म के कारण समाज में ऊँचा व आदरणीय समझा जाय व दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी व सतोगुणी होने पर भी केवल जन्म के कारण नीच व तिरस्कृत समझा जाय, यह व्यवस्था समाज घातक है और मनुष्य की गरिमा व विवेकशीलता पर प्रश्न चिन्ह लगाती है। इतना ही नहीं ऐसा मानने से न केवल समाज के बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है, प्रत्युत सदाचार व सद्गुण का भी अपमान होता है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचारी, सदाचारी से ऊपर उठ जाता है। अज्ञान-ज्ञान पर विजयी होता है तथा तमोगुण सतोगुण के सामने आदरास्पद बन जाता है। यह ऐसी स्थिति है जो गुण ग्राहक विवेकीजनों को सह्य नहीं हो सकती है।<sup>18</sup> वास्तविकता तो यह है कि किसी जाति विशेष में जन्म ग्रहण करने का महत्त्व नहीं है, महत्त्व है व्यक्ति के नैतिक सदाचरण और वासनाओं पर संयम का। जैन विचारणा यह तो स्वीकार करती है कि लोक व्यवहार या आजीविका हेतु प्रत्येक व्यक्ति को रुचि व योग्यता के आधार पर किसी न किसी कार्य का चयन तो करना होगा। यह भी ठीक है कि विभिन्न प्रकार के व्यवसायों या कार्यों के आधार पर सामाजिक वर्गीकरण भी होगा। इस व्यवसायिक या सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में होने वाले वर्गीकरण में न किसी को श्रेष्ठ, न किसी को हीन कहा जा सकता है। जैनाचार्यों के अनुसार मनुष्य या प्राणीवर्ग की सेवा का कोई भी कार्य हीन नहीं है। यहाँ तक मल-मूत्र की सफाई करने वाला कहीं अधिक श्रेष्ठ है। जैन परम्परा में नन्दिषेणमुनि के सेवाभाव की गौरव- गाथा लोक-विश्रुत है। जैन परम्परा में किसी व्यवसाय या कर्म को तभी हीन माना गया है, जब वह व्यवसाय या कर्म-हिंसक या क्रूरतापूर्ण कार्यों से युक्त हो। जैनाचार्यों ने जिन जातियों या व्यवसायों को हीन कहा है वे हैं -- शिकारी, बधिक, चिड़ीमार, मच्छीमार आदि। किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार आजीविका हेतु चुना गया व्यवसाय न होकर उसका आध्यात्मिक विकास या सद्गुणों का विकास है। उत्तराध्ययनसूत्र<sup>19</sup> में कहा है कि साक्षात् तप (साधना) का ही महत्त्व दिखायी देता है, जाति का कुछ भी नहीं। चाण्डाल- पुत्र हरकेशी मुनि को देखो जिनकी प्रभावशाली ऋद्धि है। मानवीय समता जैनधर्म का मुख्य आधार है। उसमें हरकेशीबल जैसे चाण्डाल, अर्जुनमाली जैसे मालाकार, पूनिया जैसे धूनिया और शकडाल पुत्र जैसे कुम्भकार का भी वही स्थान है, जो स्थान उसमें इन्द्रभूति जैसे वेदपाठी ब्राह्मण पुत्र, दशार्णभद्र एवं श्रेणिक जैसे क्षत्रिय नरेश, धन्ना व शालिभद्र जैसे समृद्ध श्रेष्ठी रत्नों का है।

आत्मदर्शी साधक जैसे पुण्यवान व्यक्ति को धर्म उपदेश करता है, वैसे ही तुच्छ (विपन्न दरिद्र) को भी धर्म उपदेश करता है।<sup>20</sup> सन्मार्ग की साधना में सभी मानवों को समान अधिकार प्राप्त है। धनी-निर्धन, राजा-प्रजा और ब्राह्मण-शूद्र का भेद जैन धर्म को मान्य नहीं है।



## जैनधर्म में वर्ण एवं जाति व्यवस्था का ऐतिहासिक विकासक्रम

मूलतः जैनधर्म वर्णव्यवस्था एवं जातिव्यवस्था के विरुद्ध खड़ा हुआ था, किन्तु कालक्रम में बृहत् हिन्दू-समाज के प्रभाव से उसमें भी वर्ण एवं जाति सम्बन्धी अवधारणाएँ प्रविष्ट हो गईं। जैन परम्परा में जाति और वर्ण व्यवस्था के उद्भव एवं ऐतिहासिक विकास का विवरण सर्वप्रथम आचारांगनिर्युक्ति ( लगभग ईस्वी सन् ११वीं शती ) में प्राप्त होता है उसके अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य जाति एक ही थीं। ऋषभ के द्वारा राज्य-व्यवस्था का प्रारम्भ होने पर उसके दो विभाग हो गये -- 1. शासक ( स्वामी ) और 2. शासित ( सेवक )। उसके पश्चात् शिल्प और वाणिज्य के विकास के साथ उसके तीन विभाग हुए -- 1. क्षत्रिय ( शासक ), 2. वैश्य ( कृषक एवं व्यवसायी ) और 3. शूद्र ( सेवक )। उसके पश्चात् श्रावक धर्म की स्थापना होने पर अहिंसक, सदाचारी और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को ब्राह्मण ( माहण ) कहा गया। इसप्रकार क्रमशः चार वर्ण अस्तित्व में आये। इन चार वर्णों के स्त्री-पुरुषों के समवर्णिय तथा अन्तर्वर्णिय अनुलोम एवं प्रतिलोम संयोगो से सोलहवर्ण बने, जिनमें सातवर्ण और नौ अन्तरवर्ण कहलाए। सात वर्ण में समवर्णिय स्त्री-पुरुष के संयोग से चार मूल वर्ण तथा ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री के संयोग से उत्पन्न, क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न और वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री के संयोग से उत्पन्न ऐसे अनुलोम संयोग से उत्पन्न तीनवर्ण आचार्यागच्छुर्णि ( ईसा की 7वीं शती ) में इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि "ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्राणी के संयोग से जो सन्तान होती है वह उत्तम क्षत्रिय, शूद्र क्षत्रिय या संकर क्षत्रिय कही जाती है, यह पाँचवा वर्ण है। इसी प्रकार क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान उत्तम वैश्य, शूद्र वैश्य या संकर वैश्य कही जाती है, यह छठा वर्ण है तथा वैश्य पुरुष एवं शूद्र-स्त्री के संयोग से उत्पन्न सन्तान शूद्र शूद्र या संकरशूद्र कही जाती है, यह सातवाँ वर्ण है। पुनः अनुलोम और प्रतिलोम सम्बन्धों के आधार पर निम्न नौ अन्तर-वर्ण बने। ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अम्बष्ठ' नामक आठवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय पुरुष और शूद्रा स्त्री से 'उग्र' नामक नवाँ वर्ण हुआ। ब्राह्मण पुरुष और शूद्रा स्त्री से 'निषाद' नामक दसवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अयोग' नामक ग्यारहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय और ब्राह्मणी से 'सूत' नामक तेरहवाँ वर्ण हुआ। शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से 'क्षत्रा' ( खत्ता ) नामक चौदहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'वैदेह' नामक पन्द्रहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ और शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री के से 'चाण्डाल' नामक सोलहवाँ वर्ण हुआ। इसके पश्चात् इन सोलह वर्णों में परस्पर अनुलोम एवं प्रतिलोम संयोग से अनेक जातियाँ अस्तित्व में आयीं।<sup>21</sup>"

उपरोक्त विवरण में हम यह देखते हैं कि जैन धर्म के आचार्यों ने भी काल-क्रम में जाति और वर्ण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में हिन्दू परम्परा की व्यवस्थाओं को अपने ढंग से संशोधित कर स्वीकार कर लिया। लगभग सातवीं सदी में दक्षिण भारत में हुए आचार्य जिनसेन ने लोकापवाद के भय से तथा जैन धर्म का अस्तित्व और सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिए हिन्दू वर्ण एवं जातिव्यवस्था को इस प्रकार आत्मसात कर लिया कि इस सम्बन्ध में जैनों का जो वैशिष्ट्य था, वह प्रायः समाप्त हो गया। जिनसेन ने सर्वप्रथम यह बताया कि आदि ब्रह्मा

ऋषभदेव ने षट्कर्मों का उपदेश देने के पश्चात् तीन वर्णों ( क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ) की सृष्टि की। इसी ग्रन्थ में आगे यह भी कहा गया है कि जो क्षत्रिय और वैश्य वर्ण की सेवा करते हैं वे शूद्र हैं। इनके दो भेद हैं -- कारु और अकारु। पुनः कारु के भी दो भेद हैं -- स्पृश्य और अस्पृश्य है। घोबी, नापित आदि स्पृश्य शूद्र हैं और चण्डाल आदि जो नगर के बाहर रहते हैं वे अस्पृश्य शूद्र हैं (आदिपुराण 16/184-186)। शूद्रों के कारु और अकारु तथा स्पृश्य एवं अस्पृश्य -- ये भेद सर्वप्रथम केवल पुराणकार जिनसेन किये हैं।<sup>22</sup> उनके पूर्ववर्ती अन्य किसी जैन आचार्य ने इस प्रकार के भेदों को मान्य नहीं किया है। किन्तु हिन्दू समाज व्यवस्था से प्रभावित हो बाद के जैन आचार्यों ने इसे प्रायः मान्य किया। षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर ने भी इस स्पृश्य-अस्पृश्य की चर्चा की है। यद्यपि पुराणकार ने शूद्रों को एकशाटकव्रत अर्थात् क्षुल्लकदीक्षा का अधिकार मान्य किया था, किन्तु बाद के दिगम्बर जैन आचार्यों ने उसमें भी कमी कर दी। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांगसूत्र (3/202) के मूलपाठ में तो केवल रोगी, भयार्त और नपुंसक की मुनि दीक्षा का निषेध था, किन्तु परवर्ती टीकाकारों, चण्डालादि जाति जुगित और व्याधादि कर्मजुगित लोगों को दीक्षा देने का निषेध कर दिया।<sup>24</sup> फिर भी यह सब जैन धर्म की मूल परम्परा के तो विरुद्ध ही था।

### जातीय अहंकार मिथ्या है

जैनधर्म में जातीय मद और कुल मद को निन्दित माना गया है। भगवान महावीर के पूर्व-जीवनों की कथा में यह चर्चा आती है कि मारीचि के भव में उन्होंने अपने कुल का अहंकार किया था, फलतः उन्हें निम्न भिक्षुक कुल अर्थात् ब्राह्मणी माता के गर्भ में आना पड़ा है। आचारांग में वे स्वयं कहते हैं कि यह आत्मा अनेक बार उच्चगोत्र को और अनेक बार नीच गोत्र को प्राप्त हो चुका है। इसलिए वस्तुतः न तो कोई हीन/ नीच है, और न कोई अतिरिक्त/ विशेष/ उच्च है। साधक इस तथ्य को जानकर उच्चगोत्र की स्पृहा न करें। उक्त तथ्य को जान लेने पर भला कौन गोत्रवादी होगा ? कौन उच्चगोत्र का अहंकार करेगा ? और कौन किस गोत्र/जाति विशेष में आसक्त चित्त होगा ?<sup>25</sup>

इसलिये विवेकशील मनुष्य उच्चगोत्र प्राप्त होने पर हर्षित न हों और न नीचगोत्र प्राप्त होने पर कुपित/दुःखी हो। यद्यपि जैनधर्म में उच्चगोत्र एवं निम्नगोत्र की चर्चा उपलब्ध है। किन्तु गोत्र का सम्बन्ध परिवेश के अच्छे या बुरे होने से है। गोत्र का सम्बन्ध जाति अथवा स्पृश्यता-अस्पृश्यता के साथ जोड़ना भ्रान्ति है। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार देवगति में उच्च गोत्र का उदय होता है और तिर्य्यच मात्र में नीच गोत्र का उदय होता है, किन्तु देवयोनि में भी कित्त्विषिक देव नीच एवं अस्पृश्यवत् होते हैं। इसके विपरीत अनेक निम्न गोत्र में उत्पन्न पशु जैसे -- गाय, घोड़ा, हाथी बहुत की सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। वे अस्पृश्य नहीं माने जाते। अतः उच्चगोत्र में उत्पन्न व्यक्ति भी हीन और नीचगोत्र में उत्पन्न व्यक्ति भी उच्च हो सकता है। अतः गोत्रवाद की धारणा को प्रचलित जातिवाद तथा स्पृश्यास्पृश्य की धारणा के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। भगवान महावीर ने प्रस्तुत सूत्र में जाति-मद, गोत्र-मद आदि को निरस्त करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि " जब आत्मा अनेक बार उच्च- नीच गोत्र का

स्पर्श कर चुका है, कर रहा है तब फिर कौन ऊँचा है ? कौन नीचा ? ऊँच-नीच की भावना मात्र एक अहंकार है, और अहंकार 'मद' है। मद नीचगोत्र के बन्धन का मुख्य कारण है। अतः इस गोत्रवाद व मानवाद की भावना से मुक्त होकर जो उनमें तटस्थ रहता है, वही समत्वशील है, वही पण्डित है।

मथुरा से प्राप्त अभिलेखों का जब हम अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि न केवल प्राचीन आगमों से अपितु इन अभिलेखों से भी यही फलित होता है कि जैन धर्म ने सदैव ही सामाजिक समता पर बल दिया है और जैनधर्म में प्रवेश का द्वार सभी जातियों के व्यक्तियों के लिये समान रूप से खुला है। मथुरा के जैन अभिलेख इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि जैन मन्दिरों के निर्माण और जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में धनी-निर्धन, ब्राह्मण-शूद्र सभी वर्गों, जातियों एवं वर्णों के लोग समान रूप से भाग लेते थे। मथुरा के अभिलेखों में हम यह पाते हैं कि लोहार, सुनार, गन्धी, केवट, लौहवणिक, नर्तक और यहां तक कि गणिकायें भी जिन मन्दिरों का निर्माण व जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाती थीं।<sup>26</sup> ज्ञातव्य है कि मथुरा के इन अभिलेखों में लगभग 60% दानदाता उन जातियों से हैं, जिन्हें सामान्यतया निम्न माना जाता है। स्थूलिभद्र की प्रेयसी कोशा वेश्या द्वारा जैनधर्म अंगीकार करने की कथा तो लोक-विश्रुत है ही।<sup>27</sup> मथुरा के अभिलेखों में भी गणिका नादा द्वारा देव कुलिका की स्थापना भी इसी तथ्य को सूचित करती है कि एक गणिका भी श्राविका के व्रतों को अंगीकार करके उतनी ही आदरणीय बन जाती थी, जितनी कोई राज-महिषी। आवश्यकचूर्णि और तित्थोगाली-प्रकीर्णक में वर्णित कोशा वेश्या का कथानक और मथुरा में नादा नामक गणिका द्वारा स्थापित देव कुलिका, आयागपट्ट आदि इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं। जैन धर्म यह भी मानता है कि कोई दुष्कर्मा व दुराचारी व्यक्ति भी अपने दुष्कर्म का परित्याग करके सदाचार पूर्ण नैतिक-जीवन व व्यवसाय को अपना कर समाज में प्रतिष्ठित बन सकता है। जैन साधना का राजमार्ग तो उसका है जो उस पर चलता है; वर्ण, जाति या वर्ग विशेष का उस पर एकाधिकार नहीं है। जैन धर्म साधना का उपदेश तो वर्षा ऋतु के जल के समान हो, जो ऊँचे पर्वतों, नीचे खेत-खलिहानों पर, सुन्दर महल व झोपड़ी पर समान रूप से बरसता है। जिस प्रकार बादल बिना भेद-भाव के सर्वत्र जल की वृष्टि करते हैं उसी प्रकार मुनि जो भी ऊँच-नीच, धनी-निर्धन का विचार किये वगैर सर्वत्र सन्मार्ग का उपदेश करना चाहिए।<sup>28</sup> यह बात भिन्न है कि उसमें से कौन कितना ग्रहण करता है। जैन धर्म में जन्म के आधार पर किसी को निम्न या उच्च नहीं कहा जा सकता, हाँ वह इतना अवश्य मानता है कि अनैतिक आचरण करना अथवा क्रूर कर्म द्वारा अपनी आजीविका अर्जन करना योग्य नहीं है, ऐसे व्यक्ति अवश्य हीन कर्मा कहे गये हैं, किन्तु वे अपने क्रूर एवं अनैतिक कर्मों का परित्याग करके श्रेष्ठ बन सकते हैं।

ज्ञातव्य है कि आज भी जैन धर्म में और जैन श्रमणों में विभिन्न जातियों के व्यक्ति प्रवेश पाते हैं। मात्र यही नहीं श्रमण जीवन को अंगीकार करने के साथ ही निम्न व्यक्ति भी सभी का उसी प्रकार आदरणीय बन जाता है, जिस प्रकार उच्चकुल या जाति का व्यक्ति। जैनसंघ में उनका स्थान समान होता है। यद्यपि मध्यकाल में हिन्दू परम्परा के प्रभाव से विशेष रूप से

दक्षिण भारत में जातिवाद का प्रभाव जैन समाज पर भी आया और मध्यकाल में मांतग, आदि जाति-जुगित (निम्नजाति) एवं महुवारे, नट आदि कर्म-जुगित व्यक्तियों को श्रमण संस्था में प्रवेश के अयोग्य माना गया। जैन आचार्यों ने इसका कोई आगमिक प्रमाण न देकर मात्र लोकापवाद का प्रमाण दिया, जो स्पष्ट रूप से इस तथ्य का सूचक है कि जैन परम्परा को जातिवाद बृहद् हिन्दू प्रभाव के कारण लोकापवाद के भय से स्वीकारना पड़ा।

इसी के परिणाम स्वरूप दक्षिण भारत में विकसित जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा में जो शूद्र की दीक्षा एवं मुक्ति के निषेध की अघधारणा आई, वह सब ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव के कारण ही था। यद्यपि हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दक्षिण में जो निम्न जाति के लोग जैनधर्म का पालन करते थे, वे इस सबके बावजूद भी जैनधर्म से जुड़े रहे और वे आज भी पंचम वर्ण के नाम से जाने जाते हैं। यद्यपि बृहद् हिन्दू समाज के प्रभाव के कारण जैनों ने अपने प्राचीन मानवीय समता के सिद्धान्त का जो उल्लंघन किया, उसका परिणाम भी उन्हें भुगतना पड़ा और जैनों की जनसंख्या सीमित हो गयी।

विगत वर्षों में सद्भाग्य से जैनों में विशेष रूप से श्वेताम्बर परम्परा में यह समतावादी दृष्टि पुनः विकसित हुई है। कुछ जैन आचार्यों के इस दिशा में प्रयत्न के फलस्वरूप कुछ ऐसी जातियाँ जो निम्न एवं कूरकर्मा समझी जाती थी, न केवल जैन धर्म में दीक्षित हुई अपितु उन्होंने अपने हिंसक व्यवसाय को त्याग कर सदाचारी जीवन को अपनाया है। विशेष रूप से खटिक और बलाई जातियाँ जैन धर्म से जुड़ी हैं। खटिकों (हिन्दू-कसाईयों) के लगभग पाँच हजार परिवार समीर-मुनिजी की विशेष प्रेरणा से अपने हिंसक व्यवसाय और मदिरा सेवन आदि व्यवसयों का परित्याग करके जैन धर्म से जुड़े और ये परिवार आज न केवल सम्पन्न व सम्पन्न हैं, अपितु जैन समाज में भी बराबरी का स्थान पा चुके हैं। इसी प्रकार बलाईयों (हरिजनों) का भी एक बड़ा तबका मालवा में आचार्य नानालाल जी की प्रेरणा से मदिरा सेवन, मांसाहार आदि त्यागकर जैनधर्म से जुड़ा और एक सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करने को प्रेरित हुआ है, ये इस दिशा में अच्छी उपलब्धि है। कुछ अन्य श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैन आचार्यों एवं मुनियों ने भी बिहार प्रान्त में सराक जाति एवं परमार क्षत्रियों को जैन धर्म से पुनः जोड़ने के सफल प्रयत्न किये हैं। आज भी अनेको जैनमुनि सामान्यतया निम्न कही जाने वाली जातियों से दीक्षित हैं और जैन संघ में समान रूप से आदरणीय हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि जैनधर्म सदैव ही सामाजिक समता का समर्थक रहा है।

जैनधर्म में वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था के सन्दर्भ में जो चिन्तन हुआ उसके निष्कर्ष निम्न हैं --

1. सम्पूर्ण मानव जाति एक ही है क्योंकि उसमें जाति भेद करने वाला ऐसा कोई भी स्वाभाविक लक्षण नहीं पाया जाता जैसा कि एक जाति के पशु से दूसरे जाति के पशु में अन्तर होता है।
2. प्रारम्भ में मनुष्य जाति एक ही थी। वर्ण एवं जातिव्यवस्था स्वाभाविक योग्यता के आधार

पर सामाजिक कर्तव्यों के कारण और आजीविका हेतु व्यवसाय को अपनाने के कारण उत्पन्न हुई। जैसे-जैसे आजीविका अर्जन के विविध स्रोत विकसित होते गये वैसे-वैसे मानव समाज में विविध जातियाँ अस्तित्व में आती गईं, किन्तु ये जातियाँ मौलिक नहीं हैं। मात्र मानव सृजित हैं।

3. जाति और वर्ण का निर्धारण जन्म के आधार पर न होकर व्यक्ति के शुभाशुभ आचरण एवं उसके द्वारा अपनाये गये व्यवसाय द्वारा होता है अतः वर्ण और जाति व्यवस्था जन्मना नहीं, अपितु कर्मणा है।

4. यदि जाति और वर्णव्यवस्था व्यवसाय अथवा सामाजिक दायित्व पर स्थित है तो ऐसी स्थिति में सामाजिक कर्तव्य और व्यवसाय के परिवर्तन के आधार पर जाति एवं वर्ण में परिवर्तन सम्भव है।

5. कोई भी व्यक्ति किसी जाति या परिवार में उत्पन्न होने के कारण हीन या श्रेष्ठ नहीं होता, अपितु वह अपने सत्कर्मों के आधार पर श्रेष्ठ होता है।

6. जाति एवं कुल की श्रेष्ठता का अहंकार मिथ्या है। उसके कारण सामाजिक समता एवं शान्ति भंग होती है।

7. जैनधर्म के द्वार सभी वर्ण और जातियों के लिए समान रूप से खुले रहे हैं। प्राचीन स्तर के जैन ग्रन्थों से यह संकेत मिलता है कि उसमें चारों ही वर्णों और सभी जातियों के व्यक्ति जिन-पूजा करने, श्रावक धर्म एवं मुनिधर्म का पालन करने और साधना के सर्वोच्च लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त करने के अधिकारी माने गये थे। सातवीं-आठवीं सदी में जिनसेन ने सर्वप्रथम शूद्र को मुनि दीक्षा और मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य माना। श्वेताम्बर आगमों में कहीं शूद्र की दीक्षा का निषेध नहीं है, स्थानांग में मात्र रोगी, भयार्त और नपुंसक की दीक्षा का निषेध है किन्तु आगे चलकर उनमें भी जाति-जुगित जैसे-चाण्डाल आदि और कर्म जुगित जैसे -- कस्याई आदि की दीक्षा का निषेध कर दिया गया। किन्तु यह बृहत्तर हिन्दू परम्परा का प्रभाव ही था जो कि जैनधर्म के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध था, जैनो ने इसे केवल अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाये रखने हेतु मान्यकिया, क्योंकि आगमों में हरकेशी बल, मैतार्य, मातागमुनि आदि अनेक चाण्डालों के मुनि होने और मोक्ष प्राप्त करने के उल्लेख हैं।

8. प्राचीन जैनगमों में मुनि के लिए उत्तम, मध्यम और निम्न तीनों ही कुलों से भिक्षा ग्रहण करने का निर्देश मिलता है इससे यही फलित होता है कि जैनधर्म में वर्ण या जाति का कोई भी महत्त्व नहीं था।

9. जैनधर्म यह स्वीकार करता है कि मनुष्यों में कुछ स्वभावगत भिन्नताएं सम्भव हैं, जिनके आधार पर उनके सामाजिक दायित्व एवं जीविकार्जन के साधन भिन्न होते हैं। फिर भी वह इस बात का समर्थक है कि सभी मनुष्यों को अपने सामाजिक दायित्वों एवं आजीविका अर्जन के साधनों को ध्यान करने की पूर्ण स्वतन्त्रता और सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में विकास के समान अवसर उपलब्ध होने चाहिये, क्योंकि यही सामाजिक समता का मूल आधार है।

## सन्दर्भ

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वहू राजन्यः कृतः ।  
ऊरु तदस्य यद्वैश्याः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥  
- ऋग्वेद, 10/90/12, सं. दामोदर सातवलेकर, बालसाह, 1988
2. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड 4, पृ. 1441
3. चत्वार एकस्य पितुः सुताश्चेत्तेषां सुतानां खलु जातिरेका ।  
एवं प्रजानां च पितैक एवं पित्रैकभावाद्य न जातिभेदः ॥  
फलान्यथोदुम्बर वृक्षजातेर्यथाग्रमध्यान्त भवानि यानि ।  
रूपाक्षतिस्पर्शसमानि तानि तथैकतो जातिरपि प्रचिन्त्या ॥  
न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभा न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पगौराः ।  
न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गार समानवर्णाः ॥  
- वरांगचरित सर्ग 25, श्लोक 3,4,7 -- जटासिंहनन्दि, संपा. ए.एन. उपाध्ये, बम्बई, 1938
4. ये निग्रहानुग्रहयोरशक्ता द्विजा वराकाः परपोष्यजीवाः ।  
मायाविनो दीनतमा नृपेभ्यः कथं भवन्त्युत्तमजातयस्ते ॥  
तेषां द्विजानां मुख निर्गतानि वचांस्यमोघान्यघनाशकानि ।  
इहापि कामान्स्वमनः प्रकल्पान् लभन्त इत्येव मृषावचस्तत् ॥  
यथानटो रङ्गमुपेत्य चित्रं नूतानुरूपानुपयाति वेषान् ।  
जीवस्तथा संसृतिरङ्गमध्ये कर्मानुरूपानुपयाति भावान् ॥  
न ब्रह्मजातिस्त्विह काचिदस्ति न क्षत्रियो नापि च वैश्यशूद्रे ।  
ततस्तु कर्मानुवशा हितात्मा संसार चक्रे परिवंभ्रमीति ॥  
आपातकत्वाच्च शरीरदाहे देहं न हि ब्रह्म वदन्ति तज्ज्ञाः ।  
ज्ञानं च न ब्रह्म यतो निकृष्ट शूद्रोऽपि वेदाध्ययनं करोति ॥  
विद्याक्रिया चारु गुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः ।  
ज्ञाने शीलेन गुणेन युक्तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति ॥  
- वही, सर्ग 25, श्लोक 33, 34, 40-43
5. नो लोए बम्भणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा । सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥  
जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयइ । रमइ अज्जक्खणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥  
जायस्वं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं । रागदोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥  
तवस्सियं किम्मं दन्तं अवचियमंससोणियं । सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥  
तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे । जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ॥  
कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया । मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥  
चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहं । न गिणहाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥

दिद्यमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं । मणसा कायवक्केणं, तं वयं ब्रूम माहणं ॥  
जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा । एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं ब्रूम माहणं ॥  
अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं । असंसत्तं गिहत्थेसुं तं वयं ब्रूम माहणं ॥  
जहिहत्ता पुक्खसंजोगं, नाइसंगे य बन्धवे । जो न सज्जइ भोगेसुं, तं वयं ब्रूम माहणं ॥

- उत्तराध्ययनसूत्र, संपादक-- साध्वी चंदना 25/19-29

6. वारिपोक्खरपत्ते व आरगगेरिव सासपो ।  
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥  
यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो ।  
पन्नभारं विसञ्जुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥  
गम्भीर फज्जं मेधावि मग्गामगस्स कोविदं ।  
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

- धम्मपद, ब्राह्मणवर्ग 401-403, सम्पादक भिक्षुधर्मरक्षित, 1983

7. शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।  
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रापत्यसमो भवेत् ॥

अतः- सर्वजातिषु चाण्डालाः सर्वजातिषु ब्राह्मणाः ।

ब्राह्मणेष्वपि चाण्डालाः चाण्डालेष्वपि ब्राह्मणाः ॥  
कृषि-वाणिज्य-गोरक्षां राजसेवामकिंचनाः ।  
ये च विप्राः प्रकुर्वन्ति न ते कौन्तेय ! ब्राह्मणाः ॥ 13 ॥  
हिंसकोऽनृतवादी च चौर्य्याभिरतश्च यः । परदारोपसेवी च सर्वे ते पतिता द्विजाः ॥  
ब्रह्मचर्यतपोयुक्ताः समानलोष्टकांचनाः । सर्वभूतदयावन्तो ब्राह्मणाः सर्वजातिषु ॥  
क्षान्त्यादिकगुणैर्युक्तो व्यस्तदण्डो निरामिषः । न हन्ति सर्वभूतानि प्रथमं ब्रह्मलक्षणम् ॥  
सदा सर्वानृतं त्यक्त्वा मिथ्यावादाद् विरच्यते ।  
नानृतं च वदेद् वाक्यं द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥  
सदा सर्वं परद्रव्यं बहिर्वा यदि वा गृहे । अदत्तं नैव गृण्हाति तृतीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥  
देवासुरमनुष्येषु तिर्यग्योनिगतेषु च । न सेवते मैथुनं यश्चतुर्थं ब्रह्मलक्षणम् ॥  
त्यक्त्वा कुटुम्बवासं तु निर्ममो निःपरिग्रहः । युक्तशचरति निःसङ्गः पंचमं ब्रह्मलक्षणम् ॥  
पंचलक्षणसंपूर्णं ईशो यो भवेद् द्विजः । महान्तं ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्रा युधिष्ठिर ! ॥  
कैवर्त्तीगर्भसम्भूतो व्यासो नाम महामुनिः ।  
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥  
हरिणीगर्भसम्भूतो ऋषिश्रृङ्गो महामुनिः । तप ॥  
शुनकीगर्भसम्भूतः शुको नाम मुनिस्तथा । तप ॥  
मण्डूकीगर्भसम्भूतो माण्डव्यश्च महामुनिः । तप ॥  
उर्वशीगर्भसम्भूतो वशिष्ठस्तु महामुनिः । तप ॥  
न तेषां ब्राह्मणी माता संस्कारश्च न विद्यते । तप ॥  
यद्रक्ताष्टमयो हस्ती यद्रश्चर्ममयो मृगः । ब्राह्मणस्तु क्रियाहीनस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥

- कुमारपालचरित्रसंग्रह के अर्न्तगत कुमारपाल प्रबोध प्रबन्ध, पृ. 606, श्लोक 119-136, संपादक -- जिनविजयमुनि, प्रकाशक -- सिंधी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, विक्रम संवत् 2013 ।
8. कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होइ खल्लिओ ।  
वइस्से कम्मुणाहोइ सुद्धो हवइ कम्मुणा ।।  
- उत्तराध्ययन सूत्र 25
9. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा ।  
वृत्तिभेदाहितद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्रुते ।। 38-45 ।।  
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ।।  
वणिजोऽर्थार्जनान्नयायात शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।। 38-46 ।।  
गुरोरनुज्ञया लब्धाधनधान्यादिसम्पदः ।  
पृथक्कृतालयस्यास्य वृत्तिर्वर्णाप्तिरिष्यते ।। 38-137 ।।  
सृष्टयन्तरमतो दूरं अपास्य नयतत्त्ववित् ।  
अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टि प्रभावयेत् ।। 40-189 ।।  
तीर्थकृदिभिर्यं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी ।  
तां संश्रितान्नृपानेव सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ।। 40-190 ।।  
- महापुराण, जिनसेन 38/45-46, 137
10. भगवद्गीता, डॉ. राधाकृष्णन, पृ. 353
11. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।  
- गीता, 4/13
12. भगवद्गीता - राधाकृष्णन, पृ. 163
13. राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।  
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ।। 3/3/107 ।।  
श्रृणु यक्ष कुलं तात् न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।  
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ।।  
- महाभारत, वनपर्व 313/107, 108 गीता प्रेस, गोरखपुर
14. देखें -- छान्दोग्योपनिषद् ( गीता प्रेस, गोरखपुर ) 4/4
15. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।  
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्भ्रैश्यात्तथैव च ।।  
- मनुस्मृति 10/65, सं. सत्यभूषण योगी, 1966
16. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।  
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गरान्तरौजसम् ।।  
- रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 28



17. न जातिर्गहिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम् ।  
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥  
- पद्मचरित पर्व, 11/203
18. निर्गन्धप्रवचनभाष्य -- मुनि श्री चौथमल जी, पृ. 289
19. सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस कोइ ।  
सोवागपुत्ते हरिण्ण साहू, जरस्से इडिइ महाणुभागा ॥  
- उत्तराध्ययनसूत्र, 12/
20. जहा पुण्णस कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति ।  
जहा तुच्छस्स कत्थति तहा पुण्णस्स कत्थति ।  
- आचारांग -- सं. मधुकर मुनि, 1/2/6/102
- 21अ. एकका मणुस्सजाई रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसभे ।

तिण्णेव सिप्पवणिण सावागधम्ममि चत्तारि ॥  
संजोगे सोलसगं सत्त य वण्णा उ नव य अंतरिणो  
एए दोवि विगप्पा ठवणा बंभस्स णायव्वा ॥  
पगई चउक्कगाणंतरे य ते हुंति सत्त वण्णा उ ।  
आणंतरेसु चरमो वण्णो खलु होइ णायव्वो ॥  
अंबट्ठुगनिसाया य अजोगवं मागहा य सूया य ।  
खत्ता( य ) विदेहाविय चंडाला नवमगा हुंति ॥  
एगंतरिए इणमो अंबट्ठो चेव होइ उगो य ।  
विइयंतरिअ निसाओ परासरं तं च पुण वेगे ॥  
पडिलोमे सुद्धाई अजोगवं मागहो य सूओ अ ।  
एगंतरिए खत्ता वेदेहा चेव नायव्वा ॥  
बितियंतरे नियमा चण्डालो सोऽवि होइ णायव्वो ।  
अणुलोमे पडिलोमे एवं एए भवे भेया ॥  
उगणेण खत्ताए सोवागो वेणवो विदेहेणं ।  
अंबट्ठीए सुद्धीय बुक्कसो जो निसाएणं ॥  
सूएण निसाईए कुक्करओ सोवि होइ णायव्वो ।  
एसो बीओ भेओ चउव्विहो होइ णायव्वो ॥  
- आचारांगनिर्युक्ति, 19-27

- 21ब. 'एगा मणुस्सजाई' गाहा (19-8) एत्थ उसभसामिस्स  
पुव्वभवजम्मणअहिसेगचक्कवट्ठिरायाभिसेगाति, तत्थ जे रायअस्सिता ते य खत्तिया जाया  
अणस्सिता गिहवइणो जाया, जया अगगी उप्पणो ततो य भगवऽस्सिता सिप्पिया  
वाणियगा जाया, तेहिं तेहिं सिप्पवाणिज्जेहिं वित्तिं विसंतीती वइस्सा उप्पन्ना, भगवए  
पव्वइए भरहे अभिसित्ते सावागधम्मे उप्पणो बंभणा जाया, अणस्सिता बंभणा जाया  
माहणत्ति, उज्जुगसभावा धम्मपिया जं च किंचि हणंतं पिच्छंति तं निवारंति मा हण भो मा

३५, एवं ते जणेणं सुकम्मनिवत्तितसन्ना बंभणा (माहणा) जाया, जे पुण अणस्सिया असिप्पिणो ते वयख(क) लासुइबहिकआ तेसु तेसु पओयणेसु सोयमाणा हिंसाचोरियादिसु सज्जमाणा सोगद्रोहणसीला सुद्धा संवुत्ता, एवं तावं चत्तारिवि वण्णा ठाविता, सेसाओ संजोएणं, तत्थ 'संजोए सोलसयं' गाहा (20-8) एतेसिं चेव च उण्हं वण्णाणं पुव्वाणुपुव्वीए अणंतरसंजोएणं अण्णे तिण्णि वण्णा भवन्ति, तत्थ 'पयती चउक्कयाणंतरे' गाहा (21-8) पगती णाम बंभखत्तियवइससुद्धा चउरो वण्णा । इदाणि अंतरेण-बंभणेणं खत्तियाणीए जाओ सो उत्तमखत्तिओ वा सुद्धखत्तिओ वा अहवा संकरखत्तिओ पंचमो वण्णो, जो पुण खत्तिएणं वइस्सीए जाओ एसो उत्तमवइस्सो वा सुद्धवइस्सो वा संकरवइस्सो वा छट्ठो वण्णो, जो वइस्सेण सुद्धीए जातो सो उत्तमसुद्धो वा (सुद्धसुद्धो) वा संकरसुद्धो वा सत्तमो वण्णो । इदाणि वण्णेणं वण्णेहिं वा अंतरितो अणुलोमओ पडिलोमतो य अंतरा सत्त वण्णंतरया भवन्ति, जे अंतरिया ते एगंतरिया दुअंतरिया भवन्ति । चत्तारि गाहाओ पडियव्वाओ (22, 23,24,25-8) तत्थ ताव बंभणेणं वइस्सीए जाओ अंबट्ठोत्ति वुच्चइ एसो अट्ठमो वण्णो, खत्तिएणं सुद्धीए जातो उग्गोत्ति वुच्चइ एसो नवमो वण्णो, बंभणेण सुद्धीए निसातोत्ति वुच्चइ, कित्तिपारासवोत्ति, तिण्णि गया, दसमो वण्णो । इदाणि पडिलोमा भण्णति-सुद्धेण वइस्सीए जाओ अउगवुत्ति भण्णइ, एक्कारसमो वण्णो, वइस्सेणं खत्तियाणीए जाओ मागहोत्ति भण्णइ, दुवालसमो, खत्तिएणं बंभणीए जाओ सूओत्ति भण्णति, तेरसो वण्णो सुद्धेण खत्तियाणीए जाओ खत्तिओत्ति भण्णइ, चोद्धसमो, वइस्सेण बंभणीए जाओ वैदेहोत्ति भण्णति, पन्नरसमो वण्णो, सुद्धेण बंभणीए जाओ चंडालेत्ति पवुच्चइ, सोलसमो वण्णो, एतवूतिरित्ताजेते बिजाते ते वुच्चन्ति -- उग्गेण खत्तियाणीए सोवागेत्ति वुच्चइ, वैदेहेण खत्तीए जाओ वेणवुत्ति वुच्चइ, निसाएणं अंबट्ठीए जाओ बोक्कसोत्ति वुच्चइ, निसाएण सुद्धीए जातो सोवि बोक्कसो, सुद्धेण निसादीए कुक्कुडओ, एवं सच्छंदमतिविगप्पितं ।

22. क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्त्वं अनुभूय तदाभवन् ।  
 वैश्याश्च कृषिवाणिज्यशुपाल्योपजीविताः ॥  
 तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः ।  
 कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोऽन्ये स्थुरकारवः ॥  
 कारवोऽपि मत्ता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।  
 तत्रास्पृश्याः प्रजाबास्याः स्पृश्याः स्यु कर्त्तकादयः ॥  
 - आदि पुराण 16/184-186
23. ततो गो कप्पन्ति पव्वावेत्तए, तं.-पंडए वीत्ते (चाहिये) कीवे ?
24. यदाह-- "३बाले बुड्ठे नपुंसे य, जड्ठे कीवे य वाहिए ।  
 तेणे रायावगारीय, उम्मत्ते य अंदसणे ॥ 1 ॥ ।  
 दासे दुट्ठे (य), अणत्त जुंगिए इय ।  
 ओबद्धए य भयए, सेहनिप्फेडिया इय ॥ 2 ॥ ।

स्थानांगसूत्रम्, अभयदेवसूरिवृत्ति, (प्रकाशक-- सेठ माणेकलाल, दुन्नालाल,  
अहमदाबाद, विक्रम संवत् 1994) सूत्र 3/202, वृत्ति, पृ. 154

25. से असइ उच्चागोए असइ णीयागोए ।

णो हीणे णो अइरिते णो पीहए ।।

इतिसंखाय के गोथावादी, के माणावादी कसि वा एगे गिज्झे ?

तम्हापंडिए णो हरिसे णो कुज्झे

- आचारांग, ( सं. मधुकरमुनि ) 1/2/3/75

26. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, संग्रहकर्त्ता-विजयमूर्ति, लेख क्रमांक 8,31,41,54,62,  
67, 69

26अ. आवश्यकचूर्णि, जिनदासगणि, ऋषभदेव के सरीमल संस्था, रतलाम, भाग 1, पृ. 554

ब. भक्तपरिज्ञा, 128

स. तित्थोगालिअ, 777

27. आचारांग, सं. मधुकरमुनि, 1/2/6/102

28अ.) स्थानांग, सं. कन्हैयालालजी कमल, 3/202

(ब.) स्थानांग, अभयदेववृत्ति, पृ. 154-155

# जैन आगमों में मूल्यात्मक शिक्षा और वर्तमान सन्दर्भ

- प्रो. सागरमल जैन

वर्तमान युग ज्ञान-विज्ञान का युग है। मात्र बीसवीं सदी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जितना विकास हुआ है, उतना विकास मानवजाति के अस्तित्व की सहस्रों शताब्दियों में नहीं हुआ था। आज ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा एवं शोधकार्य में संलग्न सहस्रों विश्वविद्यालय, महाविद्यालय और शोध-केन्द्र हैं। यह सत्य है कि आज मनुष्य ने भौतिक जगत के सम्बन्ध में सूक्ष्मतम ज्ञान प्राप्त कर लिया है। आज उसने परमाणु को विखण्डित कर उसमें निहित अपरिमित शक्ति को पहचान लिया है, किन्तु यह दुर्भाग्य ही है कि शिक्षा एवं शोध के इन विविध उपक्रमों के माध्यम से हम एक सभ्य, सुसंस्कृत एवं शान्तिप्रिय मानव समाज की रचना नहीं कर सके।

वस्तुतः आज की शिक्षा हमें बाह्य जगत और दूसरों के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्रदान कर देती है, किन्तु उन उच्च जीवन मूल्यों के सम्बन्ध में वह मौन ही है, जो एक सुसभ्य समाज के लिये आवश्यक है। आज शिक्षा के माध्यम से हम विद्यार्थियों को सूचनाओं से तो भर देते हैं, किन्तु उन्हें जीवन के उद्देश्यों और जीवन मूल्यों के सन्दर्भ में हम कोई जानकारी नहीं देते हैं। आज समाज में जो स्वार्थपरताजन्य, संघर्ष और हिंसा पनप रही है, उसका कारण शिक्षा की यही गलत दिशा ही है। हम शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को सूचनाओं से भर देते हैं, किन्तु उसके व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करते हैं।

वस्तुतः आज शिक्षा का उद्देश्य ही उपेक्षित है। आज शिक्षक और शिक्षार्थी, शासक और समाज कोई भी यह नहीं जानता कि हम क्यों पढ़ रहे हैं और क्यों पढ़ा रहे हैं ? यदि वह जानता भी है तो या तो वह उदासीन है या फिर अपने को अकर्मण्यता की स्थिति में पाता है। आज शिक्षा के क्षेत्र में सर्वत्र आराजकता है। इस आराजकता या दिशाहीनता की स्थिति के सम्बन्ध में भी जो कुछ चिन्तन हुआ है, उसमें शिक्षा को आजीविका से जोड़ने के अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ। वर्तमान में रोजगारोन्मुख शिक्षा की बात अधिक जोर से कही जाती है। यह माना जाता है कि शिक्षा के रोजगारोन्मुख न होने से ही आज समाज में अशान्ति है, किन्तु मेरी दृष्टि में वर्तमान सामाजिक संघर्ष और तनाव का कारण व्यक्ति का जीवन के उद्देश्यों या मूल्यों के सम्बन्ध में अज्ञान या गलत दृष्टिकोण ही है। स्वार्थपरक भौतिकवादी जीवन दृष्टि ही समस्त मानवीय दुःखों का मूल है।

सबसे पहले हमें यह निश्चय करना होगा कि हमारी शिक्षा का प्रयोजन क्या है ? यदि यह कहा जाय कि शिक्षा का प्रयोजन रोजी-रोटी कमाने या मात्र उदरपूर्ति के योग्य बना देना है, तो यह एक भ्रान्त धारणा होगी। क्योंकि रोजी-रोटी की व्यवस्था तो अशिक्षित भी कर लेता है।

पशु-पक्षी भी तो अपना पेट भरते ही हैं। अतः शिक्षा को रोजी-रोटी से जोड़ना अन्वित है। यह सत्य है कि बिना रोटी के मनुष्य का काम नहीं चल सकता। दैहिक जीवन मूल्य न उदरपूर्ति वृत्ति की प्राथमिक आवश्यकता है, इससे इंकार भी नहीं किया जा सकता है किन्तु इसे ही शिक्षा का "अथ और इति" नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि यह कार्य शिक्षा के अन्तर्गत है। भी सम्भव है। यदि उदरपूर्ति/आजीविका अर्जन ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य हो तो फिर मनुष्य पशु से भिन्न नहीं होगा। कहा भी है --

"आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिः नराणाम्।

ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेनहीना नर पशुभिः समाना।"

पुनः यदि यह कहा जाय कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को अधिक सुख-सुविधा पूर्ण जीवन-जीने योग्य बनाना है, तो उसे भी हम शिक्षा का उद्देश्य नहीं कह सकते। क्योंकि मनुष्य के दुःख और पीड़ाएँ भौतिक या दैहिक स्तर की ही नहीं हैं, वे मानसिक स्तर की भी हैं। सत्य तो यह है कि स्वार्थपरता, भोगाकांक्षा और तृष्णाजन्य मानसिक पीड़ाएँ ही अधिक कष्टकर हैं, वे ही मानवजाति में भय एवं संत्रास का कारण है। यदि भौतिक सुख-सुविधाओं का अम्बार समा देने में ही सुख होता तो आज अमेरिका (U.S.A.) जैसे विकसित देशों का व्यक्ति अधिक सुखी होता, किन्तु हम देखते हैं वह संत्रास और तनाव से अधिक ग्रस्त है। यह सत्य है कि मनुष्य के लिये रोटी आवश्यक है, लेकिन वही उसके जीवन की इति नहीं है। ईसामसीह ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जी सकता है।<sup>1</sup> हम मनुष्य को भौतिक सुखों का अम्बार खड़ा करके भी सुखी नहीं बना सकते। सच्ची शिक्षा वही है जो मनुष्य को मानसिक संत्रास और तनाव से मुक्त कर सके। उसमें सहिष्णुता, समता, अनासक्ति, कर्तव्यपरायणता के गुणों को विकसित कर, उसकी स्वार्थपरता पर अंकुश लगा सके। जो शिक्षा मनुष्य में मानवीय मूल्यों का विकास न कर सके उसे क्या शिक्षा कहा जा सकता है ? यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि आज शिक्षा का सम्बन्ध "चरित्र" से नहीं "रोटी" से जोड़ा जा रहा है। आज शिक्षा की सार्थकता को चरित्र निर्माण में नहीं, चालाकी (डिप्लोमेसी) में खोजा जा रहा है। शासन भी इस मिथ्या धारणा से ग्रस्त है। नैतिक शिक्षा या चरित्र की शिक्षा में शासन को धर्म की "बू" आती है, उसे अपनी धर्मनिरपेक्षता दूषित होती दिखाई देती है, किन्तु क्या धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता या नीतिहीनता है ? मैं समझता हूँ धर्म निरपेक्षता का मतलब केवल इतना ही है कि शासन किसी धर्म विशेष के साथ आबद्ध नहीं रहेगा। आज हुआ यह है कि धर्म निरपेक्षता के नाम पर इस देश में शिक्षा के क्षेत्र से नीति और चरित्र की शिक्षा को भी बहिष्कृत कर दिया गया है। चाहे हम अपने मोनोग्रामों में "सा विद्या या विमुक्तये" की सूक्तियाँ उद्धृत करते हों, किन्तु हमारी शिक्षा का उससे दूर का भी कोई रिश्ता नहीं रह गया है। आज की शिक्षा योजना में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की शिक्षा का कोई स्थान नहीं है, जबकि उच्च शिक्षा एवं माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में अभी तक बिठाये गये तीनों आयोगों ने अपनी अनुशंसाओं में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की शिक्षा की महती आवश्यकता प्रतिपादित की है। आज का शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही अर्थ के दास हैं। एक ओर शिक्षक इसलिये नहीं पढ़ाता है कि

उसे विद्यार्थी वे चरित्र निर्माण या विकास में कोई रुचि है, उसकी दृष्टि केवल वेतन दिक्कटिकी है। वह पढ़ाने के लिये नहीं पढ़ाता, अपितु पैसे के लिये पढ़ाता है। दूसरी ओर शांमठ और विद्यार्थी उसे गुरु नहीं "नौकर" समझते हैं। जब गुरु नौकर है तो फिर संस्कार चरित्र निर्माण की अपेक्षा करना ही व्यर्थ है। आज तो गुरु शिष्य के बीच भाव-मोल होतसौदा हाता है। चाहे हमारे प्राचीन ग्रन्थों में "विद्यायाऽमृतमश्नुते" की बात कही गई हो, कि आज तो विद्या अर्थकरी हो गयी है। शिक्षा के मूल-भूत उद्देश्य को ही हम भूल रहे हैं। कर्तसन्दर्भ में फिराक का यह कथन कितना सटीक है, जब वे कहते हैं --

**सभी कुछ हो रहा है, इस तरक्की के जमाने में,  
मगर क्या गजब है कि, आदमी इनसां नहीं होता।**

आज की शिक्षा चाहे विद्यार्थी को वकील, डाक्टर, इंजीनियर आदि सभी कुछ बना रही है किन्तु यह निश्चित है कि वह इन्सान नहीं बना पा रही है। जब तक शिक्षा को चरित्र निर्माण साथ, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के साथ नहीं जोड़ा जाता है तब तक वह मनुष्य का निर्माण नहीं कर सकेगी। हमारा प्राथमिक दायित्व मनुष्य का मनुष्य बनाना है। बालक को मानवता के संस्कार देना है। अमेरिका के प्रबुद्ध विचारक टफ्ट्स शिक्षा के उद्देश्य, पद्धति और स्वरूप को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं -- "शिक्षा चरित्र निर्माण के लिये, चरित्र के द्वारा, चरित्र की शिक्षा है।" इस प्रकार उनकी दृष्टि में शिक्षा का अर्थ और इति दोनों ही बालकों में चरित्र निर्माण एवं सुसंस्कारों का वपन है। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करने हेतु सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन, सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. दौलतसिंह कोठारी और शिक्षा शास्त्री डॉ. मुदालियर की अध्यक्षताओं में जो विभिन्न आयोग गठित हुये थे उन सबका निष्कर्ष यही था कि शिक्षा को मानवीय मूल्यों से जोड़ा जाय। जब तक शिक्षा मानवीय मूल्यों से नहीं जुड़ेगी, उसमें चरित्रनिर्माण और सुसंस्कारों के वपन का प्रयास नहीं होगा, तब तक विद्यालय एवं महाविद्यालयों रूपी शिक्षा के इन कारखानों से साक्षर नहीं राक्षस ही पैदा होंगे।

भारतीय चिन्तन प्राचीनकाल से ही इस सम्बन्ध में सजग रहा। औपनिषदिक युग में ही शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया था -- "या विद्या सा विमुक्तये" अर्थात् विद्या वही जो विमुक्ति प्रदान करे। प्रश्न हो सकता है कि यहाँ विमुक्ति से हमारा क्या तात्पर्य है ? विमुक्ति का तात्पर्य मानवीय संत्रास और तनावों से मुक्ति है, अपनत्व और ममत्व के शूद्र घेरों से विमुक्ति है। मुक्ति का तात्पर्य है -- अहंकार, आसक्ति, राग-द्वेष और तृष्णा से मुक्ति। यही बात जैन आगम इसिभासियाइं ( ऋषिभासित ) में कही गई है--

**इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा ।**

**जं विज्जं साहइत्ताणां, सव्वदुक्खाण मुच्चती ॥**

**जेण बन्धं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं ।**

**आयाभावं च जाणाति, सा विज्जया दुक्खमोयणी ॥**

**- इतिभासियाइं, 17/1-2**

वही विद्या महाविद्या है और वही विद्या समस्त विद्याओं में उत्तम है, जिसकी साधना करने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। विद्या दुःख मोचनी है। जैन आचार्यों ने उसी विद्या को उत्तम माना है जिसके द्वारा दुःखों से मुक्ति हो और आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार हो।

अब प्रश्न यह उपस्थित है कि दुःख क्या है और किस दुःख से मुक्त होना है ? यह सत्य है कि दुःख से हमारा तात्पर्य दैहिक दुःखों से भी होता है, किन्तु ये दैहिक दुःख प्रथम तो कभी भी पूर्णतया समाप्त नहीं होते, क्योंकि उनका केन्द्र हमारी चेतना न होकर हमारा शरीर होता है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर अपनी वीतराग दशा में भी दैहिक दुःखों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता। जब तक देह है क्षुधा, पिपासा आदि दुःख तो रहेंगे ही। अतः जिन दुःख से विमुक्ति प्राप्त करनी है, वे दैहिक नहीं मानसिक हैं। व्यक्ति की रागात्मकता, आसक्ति या तृष्णा ही एक ऐसा तत्त्व है, जिसकी उपस्थिति में मनुष्य दुःखों से मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन आचार्यों की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन मात्र रोजी-रोटी प्राप्त कर लेना नहीं रहा है। जो शिक्षा व्यक्ति में आध्यात्मिक आनन्द या आत्मतोष नहीं दे सकती, वह शिक्षा व्यर्थ है। आत्मतोष ही शिक्षा का सम्यक् प्रयोजन है। शिक्षा-पद्धति स्पष्ट करते हुए "इसिभासियाइ" में कहा गया है कि जिस प्रकार एक योग्य चिकित्सक सर्वप्रथम रोग को जानता है फिर उस रोग के कारणों का निश्चय करता है, फिर रोग की औषधि का निर्णय करता है और फिर उस औषधि द्वारा रोग की चिकित्सा करता है।<sup>1</sup> उसी प्रकार हमें सर्वप्रथम मनुष्यों के दुःख के स्वरूप को समझना होता है, तत्पश्चात् दुःख के कारणों का विश्लेषण करके फिर उन कारणों के निराकरण का उपाय खोजना होता है और अन्त में इन उपायों द्वारा उन कारणों का निराकरण किया जाता है। यही बातें जैनधर्म में शिक्षा के प्रयोजन एवं पद्धति को स्पष्ट करती है। सम्यक् शिक्षा वही है जो मानवीय दुःखों के स्वरूप को समझे, उनके कारणों का विश्लेषण करें फिर उनके निराकरण के उपाय खोजें और उन उपायों का प्रयोग करके दुःखों से मुक्त हों। वस्तुतः आज की हमारी जो शिक्षा नीति है, उसमें हम इस पद्धति को नहीं अपनाते। शिक्षा से हमारा तात्पर्य मात्र बालक के मस्तिष्क को सूचनाओं से भर देना है। जब तक उसके सामने जीवन-मूल्यों स्पष्ट नहीं करते, तब तक हम शिक्षा के प्रयोजन को न तो सम्यक् प्रकार से समझ ही पाते हैं न मनुष्य के दुःखों का निराकरण ही कर पाते हैं। जैन आगमों में ऋषिभाषित एवं आचारांग से लेकर प्रकीर्णकों तक में शिक्षा के उद्देश्य की विभिन्न दृष्टियों से विवेचना की गयी है। यदि उस समग्र विवेचना को एक ही वाक्य में कहना हो तो जैन आचार्यों की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन चित्तवृत्तियों एवं आचार की विशुद्धि है। चित्तवृत्तियों का दर्शन ज्ञान-यात्रा प्रारम्भ है। आचारांग में मैं कौन हूँ ? इसे ही साधना-यात्रा का प्रारम्भ बिन्दु कहा गया है। आचारांग ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में आत्म जिज्ञासा से ही ज्ञान साधना का प्रारम्भ माना गया है, उपनिषद् का ऋषि कहता है "आत्मानं विद्धि", आत्मा को जानो। बुद्ध ने "अत्तानं" कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की। ज्ञातव्य है कि यहाँ आत्माज्ञान का तात्पर्य अमूर्त आत्म तत्त्व की खोज नहीं, अपितु अपने ही चित्त की विकृतियों और वासनाओं का दर्शन है। चित्तवृत्ति और आचार की विशुद्धि की प्रक्रिया तब ही प्रारम्भ हो

सकती है, जब हम अपने विकारों और वासनाओं को देखें, क्योंकि जब तक चित्त में विकार वासनाओं और उनके कारणों के प्रति सजगता नहीं आती तब तक चरित्र शुद्धि की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। आचारांग में ही कहा गया है कि जो मन का ज्ञाता होता है, वह निर्गन्थ (विकार-मुक्त) है।<sup>५</sup>

जैन आचार्यों की दृष्टि में उस शिक्षा या ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है जो चारित्र शुद्धि आचार शुद्धि की दिशा में गतिशील न करता हो। इसीलिए सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "विज्जाचरणं पमोक्खं"<sup>६</sup> अर्थात् विद्या और आचरण से ही विमुक्ति की प्राप्ति होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षा के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि श्रुत की अराधा से जीव अज्ञान का क्षय करता है और संक्लेश को प्राप्त नहीं होता है।<sup>७</sup> इसे और स्पष्ट करते हुए इसी ग्रन्थ में पुनः कहा गया है कि जिस प्रकार धागे से युक्त सुई गिर जाने पर भी विनष्ट नहीं होती है अर्थात् खोजी जा सकती है, उसी प्रकार श्रुत सम्पन्न जीव संसार में विनष्ट नहीं होता।<sup>८</sup> इसी ग्रन्थ में अन्यत्र यह भी कहा गया है कि ज्ञान, अज्ञान और मोह का विनाश करने सर्व विषयों को प्रकाशित करता है।<sup>९</sup> यह स्पष्ट है कि ज्ञान साधना का प्रयोजन अज्ञान के साथ-साथ मोह को भी समाप्त करना है। जैन आचार्यों की दृष्टि में अज्ञान और मोह में अन्त है। मोह अनात्म विषयों के प्रति आत्म बुद्धि है, वह राग या आसक्ति का उद्भावक है उसी से क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का जन्म होता है। अतः उत्तराध्ययन के अनुसार जो व्यक्ति की क्रोध, मान, माया आदि की दूषित चित्त वृत्तियों पर अंकुश लगाये, वही सच्ची शिक्षा है।<sup>१०</sup> केवल वस्तुओं के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त कर लेना शिक्षा का प्रयोजन नहीं है। उसका प्रयोजन तो व्यक्ति को वासनाओं और विकारों से मुक्त कराना है। शिक्षा व्यक्तित्व या चरित्र का उदात्तीकरण है। जब तक शिक्षा को केवल जानकारियों तक सीमित रखा जायेगा तब तक वह व्यक्तित्व की निर्माता नहीं बन सकेगी। दशवैकालिकसूत्र में शिक्षा के चार उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि --

1. मुझे श्रुत ज्ञान ( आगम ज्ञान ) प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
2. मैं एकाग्रचित्त होऊँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
3. मैं अपने आप को धर्म में स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिये।
4. मैं स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को धर्म में स्थित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिये।<sup>११</sup>

इस प्रकार दशवैकालिक के अनुसार अध्ययन का प्रयोजन ज्ञान प्राप्ति के साथ-साथ चित्त की एकाग्रता तथा धर्म ( सदाचार ) में स्वयं स्थित होना तथा दूसरों को स्थित करना माना गया है। जैन आचार्यों की दृष्टि में जो शिक्षा चरित्र शुद्धि में सहायक नहीं होती, उसका कोई अर्थ नहीं है। चंद्रवेद्यक नामक प्रकीर्णक में ज्ञान और सदाचार में तदात्म्य स्थापित करते हुए कहा गया है कि जो विनय है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है उसे ही विनय कहा जाता है।<sup>१२</sup> श्रुतज्ञान में कुशल हेतु और कारण का जानकार व्यक्ति भी यदि अविनीत और अहंकारी है तो वह ज्ञानियों द्वारा प्रशंसनीय नहीं है।<sup>१३</sup> जो अल्पश्रुत होकर भी विनीत है वही कर्म का क्षय कर



मुक्ति प्राप्त करता है, जो बहुश्रुत होकर भी अविनीत, अल्पश्रद्धा और संवेग युक्त है वह चरित्र की आराधना नहीं कर पाता है।<sup>१४</sup> जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति के लिये करोड़ों दीपक भी निरर्थक हैं उसी प्रकार अविनीत (असदाचारी) व्यक्ति के बहुत अधिक शास्त्रज्ञान का भी क्या प्रयोजन ? जो व्यक्ति जिनेन्द्र द्वारा उपदृष्ट अति विस्तृत ज्ञान को जानने में चाहे समर्थ न ही हो, फिर भी जो सदाचार से सम्पन्न है वस्तुतः वह धन्य है, और वही ज्ञानी है।<sup>१५</sup> जैन आचार्य यह मानते हैं कि ज्ञान आचरण का हेतु है, मात्र वह ज्ञान जो व्यक्ति की आचार शुद्धि का कारण नहीं होता, निरर्थक ही माना गया है। जिस प्रकार शस्त्र से रहित योद्धा और योद्धा से रहित शस्त्र निरर्थक होता है, उसी प्रकार ज्ञान से रहित आचरण और आचरण से रहित ज्ञान निरर्थक होता है !

जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षा प्राप्ति में बाधक निम्न पाँच कारणों का उल्लेख हुआ है -- (१) अभिमान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) आलस्य और (५) रोग।<sup>१६</sup> इसके विपरीत उसमें उन आठ कारणों का भी उल्लेख हुआ है जिन्हें हम शिक्षा प्राप्त करने के साधक तत्त्व कह सकते हैं -- (१) जो अधिक हँसी-मजाक नहीं करता हो, (२) जो अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण रखता हो, (३) जो किसी की गुप्त बात को प्रकट नहीं करता हो, (४) जो अशील अर्थात् आचारहीन न हो, (५) जो दूषित आचार वाला न हो, (६) जो रस लोलुप न हो, (७) जो क्रोध न करता हो और (८) जो सत्य में अनुरक्त हो।<sup>१७</sup> इससे यही फलित होता है कि जैनधर्म में शिक्षा का सम्बन्ध चारित्रिक मूल्यों से रहा है।

वस्तुतः जैन आचार्यों को ज्ञान और आचरण का द्वैत मान्य नहीं है वे कहते हैं -- जो ज्ञान है, वही आचरण है, जो आचरण है, वहीं आगम-ज्ञान का सार है।<sup>१८</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में उस शिक्षा को निरर्थक ही माना गया है जो व्यक्ति के चारित्रिक-विकास या व्यक्तित्व-विकास करने में समर्थ नहीं है। जो शिक्षा मनुष्य को पाशविक वासनाओं से ऊपर नहीं उठा सके, वह वास्तविक शिक्षा नहीं है।

जैन आचार्य शिक्षा का अर्थ व्यक्ति को जीवन और जगत के सम्बन्ध में जानकारियों से भर देना नहीं मानते हैं, अपितु वे इसका उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास या सद्गुणों का विकास मानते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि वे शिक्षा को आजीविका या कलात्मक कुशलता से अलग कर देते हैं। रायपसेनीयसुत्त में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख है -- 1. कलाचार्य, 2. शिल्पाचार्य एवं 3. धर्माचार्य।<sup>१९</sup> उसमें इन तीनों आचार्यों के प्रति शिष्य के कर्तव्यों का भी निर्देश है। इससे यह फलित है कि जैन चिन्तकों की दृष्टि में शिक्षा व्यवस्था तीन प्रकार की थी। कलाचार्य का कार्य जीवोपयोगी कलाओं अर्थात् ज्ञान-विज्ञान और ललित कलाओं की शिक्षा देना था। भाषा, लिपि, गणित के साथ-साथ खगोल, भूगोल, ज्योतिष आयुर्वेद संगीत नृत्य आदि की भी शिक्षा कलाचार्य देते थे। वस्तुतः आज हमारे विश्वविद्यालयों में कला, सामाजिक विज्ञान एवं विज्ञान संकाय जो कार्य करते हैं, उन्हीं से मिलता-जुलता कार्य कलाचार्य का था। जैनागमों में पुरुष की 64 एवं स्त्री की 72 कलाओं का निर्देश उपलब्ध है<sup>२०</sup>, इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि जैनाचार्यों की दृष्टि में

शिक्षा जीवन के सभी पहलुओं का स्पर्श करती है।

कलाचार्य के बाद दूसरा स्थान शिल्पाचार्य का था। शिल्पाचार्य वस्तुतः वह व्यक्ति होता था जो आजीविका अर्जन से सम्बन्धित विविध प्रकार के शिल्पों की शिक्षा देता था। आज जिस प्रकार विभिन्न औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थायें प्रशिक्षण प्रदान करती हैं, उस काल में यही कार्य शिल्पाचार्य करते। इनके ऊपर धर्माचार्य का स्थान था। इनका दायित्व वस्तुतः व्यक्ति के चारित्रिक गुणों का विकास करना था। वे शील और सदाचार की शिक्षा देते थे। इस प्रकार-प्राचीन काल में शिक्षा को तीन भागों में विभक्त किया गया था और इन तीनों विभागों का दायित्व तत्-तत् विषयों के आचार्य निर्वाह करते थे।

जैन परम्परा में कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य के जो निर्देश उपलब्ध होते हैं उनसे ऐसा लगता है कि भारतीय चिन्तन में जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ या जीवन-मूल्य माने गये हैं, उनमें मोक्ष तो साध्य पुरुषार्थ है, अतः शेष तीन पुरुषार्थों की शिक्षा की व्यवस्था अलग-अलग तीन आचार्यों के लिए नियत की गई थी। शिल्पाचार्य का कार्य अर्थ पुरुषार्थ की शिक्षा देना था, तो कलाचार्य का काम भाषा लिपि और गणित की शिक्षा के साथ-साथ काम पुरुषार्थ की शिक्षा देना था। धर्माचार्य का कार्य मात्र धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ से ही सम्बन्धित था इस प्रकार विविध जीवन मूल्यों की शिक्षा के लिए विविध आचार्यों की व्यवस्था थी। चूँकि जैनधर्म मूलतः एक निवृत्ति मूलक और संन्यासपरक धर्म था इसलिए धर्माचार्य का कार्य धर्म और मोक्ष की पुरुषार्थ की शिक्षा देने तक ही सीमित रखा गया था। इस प्रकार जीवन के विविध मूल्यों के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था भी अलग-अलग थी। आज हम सम्पूर्ण जीवन मूल्यों के लिए जो एक ही प्रकार की शिक्षा व्यवस्था की बात करते हैं, वह मूल में भ्रांति है, जहाँ शिल्पाचार्य और कलाचार्य वृत्तिमूलक शिक्षा प्रदान करते थे वहाँ धर्माचार्य निवृत्ति मूलक शिक्षा प्रदान करते थे। पुनः यह भी आवश्यक है कि जो आचार्य जिस प्रकार की जीवन शैली जीता है। वह वैसी ही शिक्षा प्रदान कर सकता है। अतः धर्माचार्य से अर्थ और काम की शिक्षा और शिल्पाचार्य एवं कलाचार्य से धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ की शिक्षा की अपेक्षा करना उचित नहीं है। वर्तमान सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि हम शिक्षा के विविध क्षेत्रों का दायित्व विविध आचार्यों को सौंपे और इस बात का विशेष ध्यान रखें कि जो व्यक्ति जिस प्रकार की शिक्षा के देने के लिए योग्य हो, वही उसका दायित्व सम्भाले। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक शिक्षा के क्षेत्र में मानव के सर्वांगीण विकास की कल्पना सार्थक नहीं होगी। "रायपसेनीयसुत्त" में जो कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य की व्यवस्था दी गयी है इससे यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा के ये तीनों क्षेत्र मानव जीवन के तीन मूल्यों से सम्बन्धित थे तथा एक-दूसरे से पृथक् थे और सामान्य व्यक्ति तीनों ही प्रकार की शिक्षायें प्राप्त करता था। फिर भी प्राचीनकाल में यह शिक्षा पद्धति व्यक्ति के लिये भार स्वरूप नहीं थी।

जहाँ तक आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा का प्रश्न था यह धर्माचार्य के सान्निध्य में उपदेशों के श्रवण के माध्यम से प्राप्त की जाती थी। इसके लिये व्यक्ति को कुछ व्यय नहीं करना होता है। सामान्यतया श्रमण परम्परा में धर्माचार्य भिक्षाचार्या से ही अपनी उदरपूर्ति करते

थे और उनके कोई स्थायी आश्रम आदि भी नहीं होते थे, अतः वे व्यक्ति और समाज पर भार स्वरूप नहीं होते थे। इसके विपरीत वैदिक परम्परा में धर्माचार्य सपरिवार अपने आश्रमों में रहते थे तथा धर्माचार्य और कलाचार्य का कार्य एक ही व्यक्ति करता था कुछ कलाचार्य सम्पन्न व्यक्तियों या राजाओं या सामन्तों के घर जाकर भी शिक्षा प्रदान करते थे, फिर भी सामान्यतया, वे शिक्षा अपने आश्रमों में ही प्रदान करते थे। आश्रम पद्धति की विशेषता यह थी कि विद्यार्थी और शिक्षक अपनी आजीविका या तो अपने श्रम से उपार्जित करते अथवा भिक्षाचार्य के माध्यम से उसकी पूर्ति करते। इसलिए उस युग में शिक्षा न तो व्यक्ति पर भार स्वरूप थी और न राज्य पर। समृद्ध व्यक्ति अथवा राजा समय-समय पर दानादि देकर शिक्षकों को सम्मानित अवश्य करते थे। विद्यार्थी भी अपनी शिक्षापूर्ण करने के पश्चात् जब स्वयं आजीविका अर्जन करने लगता, तो वह भी गुरु-दक्षिणा देकर अपने गुरु को सम्मानित करता था। फिर भी यह समग्र व्यवस्था मूलतः ऐच्छिक थी। शिल्पाचार्य आजीविका अर्जन से सम्बन्धित विभिन्न शिल्पों की शिक्षा देते थे। विद्यार्थी शिल्पाचार्य के सान्निध्य में रहकर ही शिल्प सिखते थे। इसमें शिक्षण और आजीविका अर्जन की प्रक्रिया साथ-साथ ही चलती थी। सामान्यतया यह शिक्षा पिता-पुत्र की परम्परा से चलती थी। किन्तु कभी-कभी व्यक्ति दूसरों के सान्निध्य में भी ऐसी शिक्षा प्राप्त करता था। "रायपसेनीय" ये स्पष्ट रूप में यह उल्लिखित है कि किस प्रकार के शिक्षक को किस प्रकार से सम्मानित करना चाहिए।<sup>21</sup> शिल्पाचार्य और कलाचार्य के सम्मान की पद्धति धर्माचार्य के सम्मान की पद्धति से भिन्न थी। कलाचार्य और शिल्पाचार्य की शिष्यगण तेलमालिश, स्नान आदि के द्वारा न केवल शारीरिक सेवा करते थे, अपितु उन्हें वस्त्र, आभूषण आदि से अलंकृत कर सरस भोजन करवाते थे तथा उनकी आजीविका एवं उनके पुत्रादि के भरण-पोषण की योग्य व्यवस्था भी करते थे। दूसरी ओर धर्माचार्य को वन्दन नमस्कार करना, उसके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनना, भिक्षार्थ आने पर आहारादि से उसका सम्मान करना -- यही शिक्षार्थी का कर्त्तव्य माना गया था।<sup>22</sup> ज्ञातव्य है कि जहाँ शिल्पाचार्य और कलाचार्य अपने शिष्यों से भूमि, मुद्रा आदि के दान की अपेक्षा करते थे, वहाँ धर्माचार्य अपरिग्रही होने के कारण अपने प्रति श्रद्धाभाव को छोड़कर अन्य कोई अपेक्षा नहीं रखते थे। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शिल्पाचार्य और कलाचार्य सामान्यतया गृहस्थ होते थे और इसलिए उन्हें अपने पारिवारिक दायित्वों को सम्पन्न करने के लिए शिष्यों से मुद्रा आदि की अपेक्षा होती, किन्तु धर्माचार्य की स्थिति इससे भिन्न थी, वे सामान्य रूप से संन्यासी और पपरिग्रही होते थे, अतः उनकी कोई अपेक्षा नहीं होती थी। वस्तुतः नैतिकता और सदाचार की शिक्षा देने का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता था जो स्वयं अपने जीवन में नैतिकता का आचरण करता हो और यही कारण था कि उसके उपदेशों एवं आदेशों का प्रभाव होता था। आज हम नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा देने का प्रथम तो कोई प्रयत्न ही नहीं करते दूसरे उसकी अपेक्षा हम उन शिक्षकों से करते हैं जो स्वयं उस प्रकार का जीवन नहीं जी रहे होते हैं, फलतः उनकी शिक्षा को कोई प्रभाव भी नहीं होता। यही कारण है कि आज विद्यार्थियों में चरित्र निष्ठा का अभाव पाया जाता है क्योंकि यदि शिक्षक स्वयं चरित्रवान नहीं होगा तो वह अपने विद्यार्थियों को वैसी शिक्षा नहीं दे पायेगा, कम से कम धर्माचार्य के सन्दर्भ में तो यह बात

आवश्यक है। जब तक उसके जीवन में चारित्रिक और नैतिक मूल्य साकार नहीं होंगे, वह अपने शिष्यों पर उनका प्रभाव डालने में समर्थ नहीं होगा। चन्द्रवेद्यक प्रकीर्णक कहता है कि सम्यक् शिक्षा के प्रदाता आचार्य निश्चय ही सुलभ नहीं होते।<sup>23</sup>

जैन आगमों में इस प्रश्न पर भी गम्भीरता से विचार किया गया है कि शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी कौन है? चन्द्रवेद्यक प्रकीर्णक में उन व्यक्तियों को शिक्षा के अयोग्य माना गया है, जो अविनीत हों, जो आचार्य का और विद्या का तिरस्कार करते हों, मिथ्या दृष्टिकोण से युक्त हों तथा मात्र सांसारिक भोगों के लिए विद्या प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हों।<sup>24</sup> इसी प्रकार योग्य आचार्य कौन हो सकता है इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो देश और काल का ज्ञाता, अवसर को समझने वाला अध्रान्त, धैर्यवान, अनुवर्तक और अभायावी होता है, साथ ही लौकिक, आध्यात्मिक और वैदिक शास्त्रों का ज्ञाता होता है वही शिक्षा देने का अधिकारी है। इस ग्रन्थ में आचार्य की उपमा दीपक से दी गयी है। दीपक के समान आचार्य स्वयं भी प्रकाशित होते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं।<sup>25</sup>

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आचार्य के गुणों की संख्या 36 स्वीकार की गयी है किन्तु ये 36 गुण कौन-कौन हैं इस सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थकारों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। भगवतीआराधना में आचारत्व आदि 8 गुणों के साथ-साथ, 10 स्थित कल्प, 12 तप और 6 आवश्यक, ऐसे 36 गुण माने गये हैं।<sup>26</sup> इसी के टीकाकार अपराजितसूरि ने 8 ज्ञानाचार, 8 दर्शनाचार, 12 तप, 5 समिति और 3 गुप्ति -- ये 36 गुण माने हैं।<sup>27</sup> श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग में आचार्य को आठ प्रकार की निम्न गणि सम्पदाओं से युक्त बतलाया गया है -- 1. आचार सम्पदा, 2. श्रुत सम्पदा, 3. शरीर सम्पदा, 4. वचन सम्पदा, 5. वाचना सम्पदा, 6. मतिसम्पदा, 7. प्रयोग सम्पदा (वादकौशल) और 8. संग्रह परिज्ञा (संघ व्यवस्था में निपुणता)।<sup>28</sup> प्रवचनसारोद्धार में आचार्य के 36 गुणों का तीन प्रकार से विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम उपरोक्त 8 गणि-सम्पदा के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 32 भेद होते हैं, इनमें आचार्य, श्रुत, विक्षेपणा और निर्घाटन -- ये विनय में चार भेद सम्मिलित करने पर कुल 36 भेद होते हैं। प्रकारान्तर से ज्ञानाचार, दर्शनाचार आर चरित्राचार के आठ-आठ भेद करने पर 24 भेद होते हैं, इनमें 12 प्रकार का तप मिलाने पर 36 भेद होते हैं। कहीं-कहीं आठ गणि सम्पदा, 10 स्थितिकल्प, 12 तप और 6 आवश्यक मिलाकर आचार्य में 36 गुण माने गये हैं प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार ने आचार्य के निम्न 36 गुणों का भी उल्लेख किया गया है -- 1. देशयुत, 2. कुलयुत, 3. जातियुत, 4. रूपयुत, 5. संहननयुत, 6. धृतियुत, 7. अनाशंसी, 8. अविक्लथन, 9. अयाची, 10. स्थिर परिपाटी, 11. गृहीतवाक्य, 12. जितपर्षतु, 13. जितनिद्रा, 14. मध्यस्थ, 15. देशज्ञ, 16. कालज्ञ, 17. भावज्ञ, 18. आसन्नलब्धप्रतिभ, 19. नानाविध देश भाषज्ञ, 20. ज्ञानाचार, 21. दर्शनाचार, 22. चारित्राचार, 23. तपाचार, 24. वीर्याचार, 25. सूत्रपात, 26. आहरलनिपुण, 27. हेतुनिपुण, 28. उपनयनिपुण, 29. नयनिपुण, 30. ग्राहणाकुशल, 31. स्वसमयज्ञ, 32. परसमयज्ञ, 33. गम्भीर, 34. दीप्तीमान, 35. कल्याण करने वाला और 36. सौम्य।<sup>30</sup>

इन गुणों की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन आगमों में आचार्य कैसा होना चाहिए इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया था और मात्र चरित्रवान एवं उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठावान व्यक्ति को ही आचार्यत्व के योग्य पाना गया था।

इससे यह फलित भी होता है कि जो साधक अहिंसादि महाव्रतों का स्वयं पालन करता है तथा आजीविका अर्जन हेतु मात्र भिक्षा पर निर्भर रहता है जो स्वार्थ से परे है वही व्यक्ति आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का शिक्षक होने का अधिकारी है।

विद्यार्थी कैसा होना चाहिये, इसकी चर्चा करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो भिक्षाजीवी, विनीत, सज्जन व्यक्तियों के गुणों को जानने वाला, आचार्य की मनोभावों के अनुरूप आचरण करने वाला, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि को सहन करने वाला, लाभ-अलाभ में विचलित नहीं होने वाला, सेवा तथा स्वाध्याय हेतु तत्पर, अहंकार रहित और आचार्य के कठोर वचनों को सहन करने में समर्थ शिष्य ही शिक्षा का अधिकारी है।<sup>32</sup> ग्रन्थकार यह भी कहता है कि शास्त्रों में शिष्य की जो परीक्षा विधि कही गयी है उसके माध्यम से शिष्य की परीक्षा करके ही उसे मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिये।<sup>32</sup>

उत्तराध्ययनसूत्र में शिष्य के आचार व्यवहार के सन्दर्भ में निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो शिष्य गुरु के सान्निध्य में रहता है, गुरु के संकेत व मानोभावों को समझता है वही विनीत कहलाता है इसके विपरीत आचरण वाला अविनीत। योग्य शिष्य सदैव गुरु के निकट रहे उनसे अर्थ पूर्ण बात सीखे और निरर्थक बातों को छेड़ दे, गुरु द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, शूद्र व्यक्तियों के संसर्ग से दूर रहे, यदि कोई गलती हो गयी हो तो उसे छिपाये नहीं अपितु यर्थाथ रूप में प्रकट कर दे। बिना पूछे गुरु की बातों में बीच में न बोले, अध्ययन काल में सदैव अध्ययन करे। आचार्य के समक्ष बराबरी से न बैठे, न उनके आगे, न पीछे सटकर बैठे। गुरु के समीप उनसे अपने शरीर को सटाकर भी नहीं बैठे, बैठे-बैठे ही न तो कुछ पूछे और न उत्तर दे। गुरु के समीप उकुड़ू आसन से बैठकर हाथ जोड़कर जो पूछना हो उसे विनयपूर्वक पूछे।<sup>33</sup>

ये सभी तथ्य यह सूचित करते हैं कि जैन शिक्षा व्यवस्था में शिष्य के लिए अनुशासित जीवन जीना अवश्यक था। यह कठोर अनुशासन वस्तुतः बाहर से थोपा हुआ नहीं था, अपितु मूल्यात्मक शिक्षा के माध्यम से इसका विकास अन्दर से ही होता था, क्योंकि जैन शिक्षा व्यवस्था में सामान्यतया शिष्य में ताड़न-वर्जन की कोई व्यवस्था नहीं थी। आचार्य और शिष्य दोनों के लिए ही आगम में उल्लेखित अनुशासन का पालन करना आवश्यक था। जैन शिक्षा विधि में अनुशासन आत्मानुशासन था। व्यक्ति को दूसरे को अनुशासित करने का अधिकार तभी माना गया था, जब वह स्वयं अनुशासित जीवन जीता हो। आचार्य तुलसी ने निज पर शासन फिर अनुशासन का जो सूत्र दिया है वह वस्तुतः जैन शिक्षा विधि का सार है। शिक्षा के साथ जब तक जीवन में स्वस्फूर्त अनुशासन नहीं आयेगा तब तक वह सार्थक नहीं होगी।

## सन्दर्भ

१. बाइबिल, उद्धृत नये संकेत, आचार्यरजनीश, पृ. ५७
२. इसिभासियाई, १७/३
३. आचारांग, १/१/१
४. कठोपनिषद, ३/३
५. आचारांग, २/३/१५/१
६. सूत्रकृतांग, १/१२/११
७. उत्तराध्ययन, ३२/२
८. वही, २६/६०
९. वही, ३२/२
१०. वही, ३२/१०२-१०६
११. दशवैकालिक, ६/४
१२. चन्द्रवेद्यक, ६२
१३. वही, ५६
१४. वही, ६४
१५. वही, ६८
१६. उत्तराध्ययनसूत्र, ११/३
१७. वही, ११/४-५
१८. चन्द्रवेद्यक, ७७
१९. रायपसेनीयसुत्त ( घासीलाल जी म. ) सूत्र ६५६, पृ. ३३८-३४१
२०. समवायांग-समवाय ७२ ( देखें -- टीका )
२१. रायसेनीयसुत्त ( घासीलालजी म. ) सूत्र ६५६, पृ. ३३८-३४१
२२. वही, पृ. ३३८-३४१
२३. चन्द्रवेद्यक, २०
२४. वही, ५१-५३
२५. वही, २५, २६
२६. वही, ३०
२७. भगवतीआराधना, ५२८
२८. वही, टीका
२९. स्थानांग-स्थान, ८/१५
३०. प्रवचन सारोद्धार, द्वार ६४
३१. देखें -- उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय १ एवं ११
३२. चन्द्रवेद्यक, ५३
३३. उत्तराध्ययनसूत्र, १/२-२२

# खजुराहो की कला और जैनाचार्यों की समन्वयात्मक एवं सहिष्णु दृष्टि

- डॉ. सागरमल जैन

खजुराहो की मन्दिर एवं मूर्तिकला को जैनों का प्रदेय क्या है ? इस चर्चा के पूर्व हमें उस युग की परिस्थितियों का आकलन कर लेना होगा। खजुराहो के मन्दिरों का निर्माणकाल ईस्वी सन् की नवीं शती के उत्तरार्ध से बारहवीं शती के पूर्वार्ध के मध्य है। यह कालावधि एक ओर जैन साहित्य और कला के विकास का स्वर्णयुग है, किन्तु दूसरी ओर यह जैनों के अस्तित्व के लिए संकट का काल भी है।

गुप्तकाल के प्रारम्भ से प्रवृत्तिमार्गी ब्राह्मण परम्परा का पुनः अभ्युदय हो रहा था। जन-साधारण तप-त्याग प्रधान नीरस वैराग्यवादी परम्परा से विमुख हो रहा था, उसे एक ऐसे धर्म की तलाश थी जो उसकी मनो-दैहिक एषणाओं की पूर्ति के साथ मुक्ति का कोई मार्ग प्रशस्त कर सके। मनुष्य की इसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए हिन्दूधर्म में वैष्णव, शैव, शाक्त और कौल सम्प्रदायों का तथा बौद्ध धर्म में वज्रयान सम्प्रदाय का उदय हुआ। इन्होंने तप- त्याग प्रधान वैराग्यवादी प्रवृत्तियों को नकारा और फलतः जन-साधारण के आकर्षण के केन्द्र बने। निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्पराओं के लिए अब अस्तित्व का संकट उपस्थित हो गया था। उनके लिए दो ही विकल्प शेष थे या तो वे तप-त्याग के कठोर निवृत्तिमार्गी आदर्शों से नीचे उतरकर युग की माँग के साथ कोई सामंजस्य स्थापित करें या फिर उनके विरोध में खड़े होकर अपने अस्तित्व को ही नामशेष होने दें।

बौद्धों का हीनयान सम्प्रदाय, जैनों का यापनीय सम्प्रदाय, आजीवक आदि दूसरे कुछ अन्य श्रमण सम्प्रदाय अपने कठोर निवृत्तिमार्गी आदर्शों से समझौता न करने के कारण नामशेष हो गये। बौद्धों का दूसरा वर्ग जो महायान के रास्ते यात्रा करता हुआ वज्रयान के रूप में विकसित हुआ था, यद्यपि युगीन परिस्थितियों से समझौता और समन्वय कर रहा था, किन्तु वह युग के प्रवाह के साथ इतना बह गया कि वाम मार्ग में और उसमें उपास्य भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं रह गया था। इस कारण एक ओर उसने अपनी स्वतन्त्र पहचान खो दी तथा दूसरी ओर वासना की पूर्ति के पंक्त में आकण्ठ डूब जाने से जन-साधारण की श्रद्धा से भी वंचित हो गया और अन्ततः अपना अस्तित्व नहीं बचा सका।

जैनाचार्यों ने इन परिस्थितियों में बुद्धिमत्ता से काम लिया, उन्होंने युगीन परिस्थितियों से एक ऐसा सामंजस्य स्थापित किया, जिसके कारण उनकी स्वतन्त्र पहचान भी बनी रही और

भारतीय संस्कृति की उस युग की मुख्य धारा से उनका विरोध भी नहीं रहा। उन्होंने अपने वीतरागता एवं निवृत्ति के आदर्श को सुरक्षित रखते हुए भी हिन्दू देव मण्डल के अनेक देवी-देवताओं को, उनकी उपासना पद्धति और कर्मकाण्ड को, यहाँ तक कि तन्त्र को भी अपनी परम्परा के अनुरूप रूपान्तरित करके स्वीकृत कर लिया। मात्र यही नहीं हिन्दू समाज व्यवस्था के वर्णाश्रम सिद्धान्त और उनकी संस्कार पद्धति का भी जैनीकरण करके उन्हें आत्मसात् कर लिया। साथ ही अपनी ओर से सहिष्णुता और सद्भाव का परिचय देकर अपने को नाम शेष होने से बचा लिया। हम प्रस्तुत आलेख में खजुराहो के मन्दिर एवं मूर्तिकला के प्रकाश में इन्हीं तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

खजुराहो के हिन्दू और जैन परम्परा के मन्दिरों का निर्माण समकालीन है, यह इस तथ्य का द्योतक है कि दोनों परम्पराओं में किसी सीमा तक सद्भाव और सह-अस्तित्व की भावना थी। किन्तु जैन मन्दिर समूह का हिन्दू मन्दिर समूह से पर्याप्त दूरी पर होना, इस तथ्य का सूचक है कि जैन मन्दिरों के लिए स्थल-चयन में जैनाचार्यों ने बुद्धिमत्ता और दूर-दृष्टि का परिचय दिया, ताकि संघर्ष की स्थिति को टाला जा सके। ज्ञातव्य है कि खजुराहो का जैन मन्दिर समूह हिन्दू मन्दिर समूह से लगभग 2 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह सत्य है कि मन्दिर निर्माण में दोनों परम्पराओं में एक सात्विक प्रतिस्पर्धा की भावना भी रही तभी तो दोनों परम्पराओं में कला के उत्कृष्ट नमूने साकार हो सके, किन्तु जैनाचार्य इस सम्बन्ध में सजग थे कि संघर्ष का कोई अवसर नहीं दिया जाये क्योंकि जहाँ हिन्दू मन्दिरों का निर्माण राज्याश्रय से हो रहा था, वहाँ जैन मन्दिरों का निर्माण वणिक् वर्ग कर रहा था। अतः इतनी सजगता आवश्यक थी कि राजकीय कोष एवं बहुजन समाज के संघर्ष के अवसर अल्पतम हों और यह तभी सम्भव था जब दोनों के निर्माणस्थल पर्याप्त दूरी पर स्थित हों।

मन्दिर एवं मूर्तिकला की दृष्टि से दोनों परम्पराओं के मन्दिरों में पर्याप्त समानता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनों ने अपनी परम्परा के वैशिष्ट्य की पूर्ण उपेक्षा की है। समन्वयशीलता के प्रयत्नों के बावजूद उन्होंने अपने वैशिष्ट्य और अस्मिता को खोया नहीं है। खजुराहो के मन्दिर जिस काल में निर्मित हुए तब वाममार्ग और तन्त्र का पूरा प्रभाव था। यही कारण है कि खजुराहो के मन्दिरों में कामुक अंकन पूरी स्वतन्त्रता के साथ प्रदर्शित किये गये, प्राकृतिक और अप्राकृतिक मैथुन के अनेक दृश्य खजुराहो के मन्दिरों में उत्कीर्ण हैं। यद्यपि जैन मन्दिरों की बाह्य भित्तियों पर भी ऐसे कुछ अंकन हैं, किन्तु उनकी मात्रा हिन्दू मन्दिरों की अपेक्षा अत्यल्प है। इसका अर्थ है कि जैनधर्मानुयायी इस सम्बन्ध में पर्याप्त सजग रहे होंगे कि कामवासना का यह उद्दाम अंकन उनके निवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण के साथ संगति नहीं रखता है। इसलिए उन्होंने ऐसे दृश्यों के अंकन की खुली छूट नहीं दी। खजुराहो के जैन मन्दिरों में कामुकता के अश्लील अंकन के जो दो-चार फलक मिलते हैं उनके सम्बन्ध में दो ही विकल्प हो सकते हैं या तो वे जैनाचार्यों की दृष्टि से ओझल रहे या फिर उन्हें उस तान्त्रिक मान्यता के आधार पर स्वीकार कर लिया गया कि ऐसे अंकनों के होने पर मन्दिर पर बिजली नहीं गिरती है और वह सुरक्षित रहता है। क्योंकि खजुराहो के अतिरिक्त दक्षिण के कुछ दिगम्बर जैन



मन्दिरों में और राजस्थान के तारंगा और राणकपुर के श्वे. जैन मन्दिरों में ऐसे अंकन पाये जाते हैं। जहाँ तक काम सम्बन्धी अश्लील अंकनों का प्रश्न है इस सम्बन्ध में जैन आचार्यों ने युग की माँग के साथ सामंजस्य स्थापित करके उसे स्वीकृति प्रदान कर दी थी। जिनमन्दिर की बाह्य भित्तियों पर शालभजिकाओं (अप्सराओं) के और व्यालों के उत्कीर्ण होने की सूचना जैनागम राजप्रश्नीय में भी उपलब्ध है।<sup>1</sup> इसका तात्पर्य है कि खजुराहो में उत्कीर्ण अप्सरा मूर्तियाँ जैन आगम सम्मत हैं। आचार्य जिनसेन ने इसके एक शताब्दी पूर्व ही रति और कामदेव की मूर्तियों के अंकन<sup>2</sup> एवं मन्दिर की बाह्य भित्तियों को आकर्षक बनाने की स्वीकृति दे दी थी। उन्होंने कहा था कि मन्दिर की बाह्य भित्तियों को वेश्या के समान होना चाहिए। जिस प्रकार वेश्या में लोगों को आकर्षित करने की सामर्थ्य होती है, उसी प्रकार मन्दिरों की बाह्य भित्तियों में भी जन-साधारण को अपनी ओर आकर्षित करने की सामर्थ्य होना चाहिये। जन-साधारण को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ऐसे अंकनों की स्वीकृति उनके युगबोध और सामंजस्य की दृष्टि का ही परिणाम था<sup>3</sup>। यद्यपि यह भी सत्य है कि अश्लील कामुक अंकनों के प्रति जैनों का रूख अनुदार ही रहा है। यही कारण है कि ऐसे कुछ फलकों को नष्ट करने का प्रयत्न भी किया गया है।

जैनाचार्यों की सहिष्णु और समन्वयवादी दृष्टि का दूसरा उदाहरण खजुराहो के जैन मन्दिरों में हिन्दू देवमण्डल के अनेक देवी-देवताओं का अंकन है। इन मन्दिरों में राम, कृष्ण, बलराम, विष्णु तथा सरस्वती, लक्ष्मी, काली, महाकाली, ज्वालामालिनी आदि देवियाँ, अष्ट दिक्पाल, नवग्रह आदि को प्रचुरता से उत्कीर्ण किया गया है। यद्यपि यह ज्ञातव्य है कि इनमें से अनेकों को खजुराहो के मन्दिरों के निर्माण के शताब्दियों पूर्व ही जैन देव मण्डल का अंग बना लिया गया था। राम, लक्ष्मण, कृष्ण, बलराम आदि वासुदेव और बलदेव के रूप में शलाका पुरुष तथा सरस्वती, काली, महाकाली आदि 16 विद्या-देवियों के रूप में अथवा जिनों की यक्षियों के रूप में मान्य हो चुकी थी, इसी प्रकार नवग्रह, अष्टदिक्पाल, इन्द्र आदि भी जैनों के देव मण्डल में प्रतिष्ठित हो चुके थे और इनकी पूजा और उपासना भी होने लगी थी। फिर भी जैनाचार्यों की विशिष्टता यह रही कि उन्होंने वीतराग की श्रेष्ठता और गरिमा को यथावत सुरक्षित रखा और इन्हें जिनशासन के सहायक देवी-देवता के रूप में ही स्वीकार किया।

खजुराहो के मन्दिर एवं मूर्तियों के सम्बन्ध में यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो मेरी जानकारी के अनुसार यहाँ के किसी भी हिन्दू मन्दिर में जिन प्रतिमा का कोई भी अंकन उपलब्ध नहीं होता है, जबकि जैन मन्दिरों में न केवल उन देवी-देवताओं का, जो जैन देवमण्डल के सदस्य मान लिये गये हैं, अपितु इसके अतिरिक्त भी हिन्दू देवी-देवताओं के अंकन हैं -- यह जैनाचार्यों की उदार दृष्टि का परिचायक है। जबकि हिन्दू मन्दिरों में दशवतार के कुछ फलकों में युद्ध के अंकन के अतिरिक्त जैन और बौद्ध देव मण्डल अथवा जिन और बुद्ध के अंकन का अभाव किसी अन्य स्थिति का सूचक है। मैं विद्वानों का ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित करना चाहूँगा कि वे यह देखें कि यह समन्वय या सहिष्णुता की बात खजुराहो के मन्दिर और मूर्तिकला की दृष्टि से एक पक्षीय है या उभयपक्षीय है।

इसी प्रसंग में खजुराहो के हिन्दू मन्दिरों में दिगम्बर जैन श्रमणों का जो अंकन है वह भी पुनर्विचार की अपेक्षा रहता है। डॉ. लक्ष्मीकांत त्रिपाठी ने 'भारती' वर्ष 1959-60 के अंक 3 में अपने लेख "The Erotic Scenes of Khajuraho and their Probable explanation" में इस सम्बन्ध में भी एक प्रश्न उपस्थित किया है। खजुराहो जगदम्बी मन्दिर में एक दिगम्बर जैन श्रमण को दो कामुक स्त्रियों से घिरा हुआ दिखाया गया है। लक्ष्मण मन्दिर के दक्षिण भित्ति में दिगम्बर जैन श्रमण को पशुपाशक मुद्रा में एक स्त्री से सम्भोगरत बताया गया, मात्र यहीं नहीं उसकी पाद-पीठ पर "श्री साधु नन्दिक्षपणक" ऐसा लेख भी उत्कीर्ण है। इसी प्रकार जगदम्बी मन्दिर की दक्षिण भित्ति पर एक क्षपणक (दिगम्बर जैन मुनि) को उत्थित-लिंग दिखाया गया है, उसके समक्ष खड़ा हुआ भागवत संन्यासी एक हाथ से उसका लिंग पकड़े हुए है, दूसरा हाथ मारने की मुद्रा में है, जबकि क्षपणक हाथ जोड़े हुए खड़ा है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के अन्य अंकों का उद्देश्य क्या था ? डॉ. त्रिपाठी ने इसे जैन श्रमणों की विषय-लम्पटता और समाज में उनके प्रति आक्रोश की भावना माना है। उनके शब्दों में "The Penis erectus of the Kshapanaka is suggestive of his licentious character and lack of control over Senses which appears to have been in the root of all these conflicts and opposition" (Bharti, 1959-60 No. 3, Page 100)

किन्तु मैं यहाँ डॉ. त्रिपाठी के निष्कर्ष से सहमत नहीं हूँ। मेरी दृष्टि में इसका उद्देश्य जैन श्रमणों की समाज में जो प्रतिष्ठा थी उसे नीचे गिराना था। प्रो. त्रिपाठी ने जैन श्रमणों की विषय-लम्पटता के अपने निष्कर्ष की पुष्टि के लिए "प्रबोधचन्द्रोदय" का साक्ष्य भी प्रस्तुत किया जिसमें जैन क्षपणक (मुनि) के मुख से यह कहलवाया है --

*दूरे चरण प्रणामः कृतसत्कारं भोजनं च मिष्टम् ।*

*ईर्ष्यामलं न कार्यं ऋषिणां दारान् रमणमाणानाम् ।<sup>4</sup>*

अर्थात्, ऋषियों की दूर से चरण वंदना करनी चाहिए, उन्हें सम्मान पूर्वक मिष्ट भोजन करवाना चाहिए और यदि वे स्त्री से रमण भी करें तो भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।

प्रो. त्रिपाठी का यह प्रमाण इसलिए लघर हो जाता है कि यह भी विरोधी पक्ष ने ही प्रस्तुत किया है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का मुख्य उद्देश्य ही जैन-बौद्ध श्रमणों को पतित तथा कापालिक (कौल) मत की ओर आकर्षित होता दिखाना है। वस्तुतः ये समस्त प्रयास जैन श्रमणों की सामाजिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाने के निमित्त ही थे। यह सत्य है कि इस युग में जैन श्रमण अपने निवृत्तिमार्गी कठोर संयम और देह तितीक्षा के उच्च आदर्श से नीचे उतरे थे। संघ रक्षा के निमित्त वे वनवासी से चैत्यवासी (मठवासी) बने थे। तन्त्र के बढ़ते हुए प्रभाव से जन-साधारण जैनधर्म से विमुख न हों जायें -- इसलिए उन्होंने भी तन्त्र, चिकित्सा एवं ललितकलाओं को अपनी परम्परा के अनुरूप ढाल कर स्वीकार कर लिया था। किन्तु वैयक्तिक अपवादों को छोड़कर, जो हर युग और हर सम्प्रदाय में रहे हैं, उन्होंने वाममार्गी आचार-विधि को कभी मान्यता नहीं दी। जैन श्रमण परम्परा वासनापूर्ति की स्वच्छन्दता के

उस स्तर पर कभी नहीं उतरी, जैसा कि खजुराहो के मन्दिरों में उसे अंकित किया गया है। वस्तुतः इस प्रकार के अंकनों का कारण जैन श्रमणों का चारित्रिक पतन नहीं है, अपितु धार्मिक विद्वेष और असहिष्णुता की भावना है। स्वयं प्रो. त्रिपाठी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं --

The existence of these temples of different faiths at one site has generally, upto now, been taken indicative of an atmosphere of religious toleration and amity enabling peaceful co-existence. This long established notion in the light of proposed interpretation of erotic scenes requires modification. There are even certain sculptures on the temples of Khajuraho, which clearly reveal the existence of religious rivalry and conflict at the time (Ibid, p. 99-100)

किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के विद्वेष पूर्ण अंकन जैन मन्दिरों में हिन्दू संन्यासियों के प्रति भी हैं ? जहाँ तक मेरा ज्ञान है खजुराहो के जैन मन्दिरों में एक अपवाद को छोड़कर प्रायः ऐसे अंकनों का अभाव है और यदि ऐसा है तो वह जैनाचार्यों की उदार और सहिष्णु दृष्टि का ही परिचायक है। यद्यपि यह सत्य है कि इसी युग के कतिपय जैनाचार्यों ने धर्म-परीक्षा जैसे ग्रन्थों के माध्यम से सपत्नीक सराग देवों पर व्यंग्य प्रस्तुत किये हैं और देव मूढ़ता, गुरू मूढ़ता और धर्म मूढ़ता के रूप में हिन्दू परम्परा में प्रचलित अन्धविश्वासों की समीक्षा भी की है,<sup>5</sup> किन्तु, इसके बावजूद खजुराहो के जैन मन्दिरों में हिन्दू देवमण्डल के अनेक देवों का सपत्नीक अंकन क्या जैनाचार्यों की उदार भावना का परिचायक नहीं माना जा सकता ?

वस्तुतः सामान्यतया जैन श्रमण न तो आचार में इतने पतित थे, जैसा कि उन्हें अंकित किया गया है और न वे असहिष्णु ही थे। यदि वे चारित्रिक दृष्टि से इतने पतित होते तो फिर वासवचन्द्र महाराज धांग की दृष्टि में सम्मानित कैसे होते ? खजुराहो के अभिलेख उनके जन-समाज पर व्यापक प्रभाव को सूचित करते हैं। कोई भी विषय लम्पट श्रमण जन-साधारण की श्रद्धा का केन्द्र नहीं बन सकता है। यदि जैन श्रमण भी विषय-लम्पटता में वज्रयानी बौद्ध श्रमणों एवं कापालिकों का अनुसरण करते तो कालान्तर में नाम शेष हो जाते। जैन श्रमणों पर समाज का पूरा नियन्त्रण रहता था और दुश्चरित्र श्रमणों को संघ से बहिष्कृत करने का विधान था, जो वर्तमान में भी यथावत् है। खजुराहो के जगदम्बी आदि मन्दिरों में जैन श्रमणों का जो चित्रण है वह मात्र ईर्ष्यावश उनके चरित्र-हनन का प्रयास था। यद्यपि हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये अंकन सामान्य हिन्दू परम्परा के जैनों के प्रति अनुदार दृष्टिकोण के परिचायक नहीं हैं। क्योंकि सामान्य हिन्दू समाज जैनों के प्रति सदैव ही उदार और सहिष्णु रहा है। यदि सामान्य हिन्दू समाज जैनों के प्रति अनुदार होता तो उनका अस्तित्व समाप्त हो गया होता। यह अनुदार दृष्टि केवल कौलों और कापालिकों की ही थी, क्योंकि इनके लिये जैन श्रमणों की चरित्रनिष्ठा ईर्ष्या का विषय थी। ऐतिहासिक आधारों पर भी कौलों और कापालिकों के

असहिष्णु और अनुदार होने के अनेक प्रमाण हमें उपलब्ध होते हैं। इन दोनों परम्पराओं का प्रभाव खजुराहो की कला पर देखा जाता है। जैन श्रमणों के सन्दर्भ में ये अंकन इसी प्रभाव के परिचायक हैं। सामान्य हिन्दू परम्परा और जैन परम्परा में सम्बन्ध मधुर और सौहार्दपूर्ण रहे।

पुनः जगदम्बी मन्दिर के उस फलक की, जिसमें क्षपणक अपने विरोधी के आक्रोश की स्थिति में भी हाथ जोड़े हुए हैं, व्याख्या जैन श्रमण की सहनशीलता और सहिष्णुता के रूप में की जा सकती है। अनेकांत और अहिंसा के परिवेश में पले जैन श्रमणों के लिए समन्वयशीलता और सहिष्णुता के संस्कार स्वाभाविक हैं और इनका प्रभाव खजुराहो के जैन मन्दिरों की कला पर स्पष्ट रूप देखा जाता है।

## सन्दर्भ

1. दारचेडीओ य सालभजियाओ य बालरूप य लोमहत्येणं पमज्जइ  
- राजप्रश्नीय ( मधुकरमुनि ), 200
2. हरिवंशपुराण, 29/2-5
3. ( अ ) आदिपुराण, 6/181  
( ब ) खजुराहो के जैन मन्दिरों की मूर्तिकला, रत्नेश वर्मा, पृ. 56 से 62
4. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक 3/6
5. ( अ ) पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 26  
( ब ) धूर्ताख्यान, हरिभद्र  
( स ) यशस्तिलकचम्पू ( हन्डिकी ), पृ. 249-253

# महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जैनधर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समालोचना

- प्रो. सागरमल जैन

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भारतीय वाङ्मय के विश्रुत विद्वान् थे। हिन्दी साहित्य की विविध-विधाओं में भारतीय वाङ्मय को उनका अवदान अविस्मरणीय है। दर्शन के क्षेत्र में राहुलजी ने जितना अधिक पाश्चात्य दर्शनों, विशेष रूप से द्र्वन्द्रात्मक भौतिकवाद एवं बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में लिखा, उसकी अपेक्षा जैनदर्शन के क्षेत्र में उनका लेखन बहुत ही अल्प है। उनके ग्रन्थ "दर्शन-दिग्दर्शन" में वर्धमान महावीर और अनेकान्तवादी जैन दर्शन के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसे अथवा बौद्धग्रन्थों में आने वाली जैनधर्म-दर्शन सम्बन्धी समीक्षाओं के हिन्दी अनुवाद को छोड़कर उन्होंने जैनदर्शन के क्षेत्र में कुछ लिखा हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं। अतः यहाँ जैनदर्शन के क्षेत्र में उनके विचारों की समीक्षा इन्हीं ग्रन्थांशों के आधार पर की गई है।

उन्होंने अपने ग्रन्थ "दर्शन-दिग्दर्शन" में जैन परम्परा का उल्लेख विशेषरूप से दो स्थलों पर किया है -- एक तो बुद्ध के समकालीन छः तीर्थकरों के सन्दर्भ में और दूसरा जैनदर्शन के स्वतन्त्र प्रतिपादन के क्षेत्र में। बौद्धग्रन्थों में वर्णित छः तीर्थकरों में वर्द्धमान महावीर का उल्लेख उन्होंने सर्वज्ञतावादी के रूप में किया है, किन्तु उन्होंने यह समग्र विवरण बौद्धग्रन्थों के आधार पर ही प्रस्तुत किया है। बुद्ध के समकालीन छः तीर्थकरों और विशेष रूप से वर्द्धमान महावीर के सन्दर्भ में यदि वे बौद्धेतर स्रोतों को भी आधार बनाते तो उनके साथ अधिक न्याय कर सकते थे। क्योंकि बौद्धग्रन्थों में महावीर का जो चित्रण निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र (नाटपुत्र) के रूप में है उसमें सत्यांश तो है, किन्तु वह एक आलोचक दृष्टि से ही लिखा गया है, अतः उनके व्यक्तित्व को सम्यक् रूप में प्रस्तुत नहीं करता है। महावीर के सम्बन्ध में दीघनिकाय के आधार पर वे लिखते हैं --

"महावीर की मुख्य शिक्षा को बौद्धत्रिपिटक में इस प्रकार उद्धृत किया गया है -- निर्गन्थ (जैन साधु) चार संवरों (संयमों) से संवृत्त रहता है। 1. निर्गन्थ जल के व्यवहार का वारण करता है, (जिससे जल के जीव न मारे जावें), 2. सभी पापों का वारण करता है, 3. सभी पापों के वारण करने से वह पाप रहित (धृतपाप) होता है, 4. सभी पापों का वारण में लगा रहता है। ... चूँकि निर्गन्थ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत्त रहता है इसलिए वह -- गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।" [दर्शनदिग्दर्शन, पृ. 495]

इस विवरण में महावीर की शिक्षाओं को चार्तुयाम संवर के रूप में प्रस्तुत करते हुए, उन्होंने जिस चार्तुयाम संवर का उल्लेख किया है, वस्तुतः वह चार्तुयाम संवर का मार्ग महावीर का नहीं, पार्श्व का है। परवर्तीकाल में जब पार्श्व की निर्गन्थ परम्परा महावीर की परम्परा में

सम्मिलित हो गयी, तो त्रिपिटक संकलनकर्त्ताओं ने दोनों धाराओं को एक मानकर पार्श्व के विचारों को भी महावीर के नाम से ही प्रस्तुत किया। त्रिपिटक के संकलन कर्त्ताओं की इस भ्रान्ति का अनुसरण राहुलजी ने भी किया और अपनी ओर से टिप्पणी के रूप में भी इस भूल के परिभार्जन का कोई प्रयत्न नहीं किया। जबकि उनके सहकर्मी बौद्धभिक्षु जगदीश काश्यपजी ने इस भूल के परिभार्जन का प्रयत्न दीघनिकाय की भूमिका में विस्तार से किया है, वे लिखते हैं -- "सामञ्ज्यफलसुत्त" में वर्णित छः तैर्थिकों के मतों के अनुसार, अपने-अपने साम्प्रदायिक जगत्तन्त्रों के केन्द्र अवश्य रहे होंगे। इनके अवशेष खोजने के लिए देश के वर्तमान धार्मिक-जीवन में खोज करना सार्थक होगा। कम से कम "निगण्ठ-नातपुत्त" से हमलोग निश्चित रूप से परिचित हैं। वे जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ही हैं। पालि-संस्करण में वे ही "चातुर्याम संवर" सिद्धान्त के प्रवर्तक कहे जाते हैं। सम्भवतः ऐसा भूल से हो गया है। वास्तव में "चातुर्याम-धर्म" के प्रवर्तक उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे -- सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वातो बहिद्दादाणाओ वेरमणं (ठाणाग (ठाण 4), पृ. 201, सूत्र 266)।

उपर्युक्त वर्णित "चातुर्याम संवर" सिद्धान्त में परिग्रहवेरमण" नामक एक और व्रत जोड़कर पार्श्वनाथ के परवर्ती तीर्थंकर महावीर ने "पंचमहाव्रत-धर्म" का प्रवर्तन किया। [ज्ञातव्य है कि यहाँ काश्यपजी से भी भूल हो गयी है वस्तुतः महावीर ने परिग्रह विरमण नहीं, मैथुनचिरमण या ब्रह्मचर्य का महाव्रत जोड़ा था। "बहिद्दादाण" का अर्थ तो परिग्रह है ही। पार्श्व स्त्री को भी परिग्रह ही मानते थे।]

यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जिस रूप में पालि में "चातुर्यामसंवर" सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है, वैसा जैन साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पालि में यह इस प्रकार वर्णित है -- "सब्बवारिवारिता च होति, सब्बवारियुत्तो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो" और इसका अर्थ भी स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। इसे देखकर यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः यह तोड़-मरोड़ के ही कारण है।" [दीघनिकाय-नालंदासंस्करण, प्रथमभाग की भूमिका, पृ. १३-१४]। अतः राहुलजी ने चार संवरों का उल्लेख जिस रूप में किया है, वह और दीघनिकाय के इस अंश का जो हिन्दी अनुवाद राहुल जी ने किया है वह भी, निर्दोष नहीं है। दीघनिकाय का वह मूलपाठ, उसकी अट्टकथा और अनुवाद इस प्रकार है -- "एवं वुत्ते, भन्ते, निगण्ठो नातपुत्तो मं एतदवोच - इध महाराज, निगण्ठो चातुर्यामसंवरसंवुतो होति ? महाराज निगण्ठो कथं च महाराज निगण्ठो चातुर्याम संवरोसंवुतो होति ? इध सब्बवारिवारितो च होति, सब्बवारियुत्तो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो च एवं खो, महाराज, निगण्ठो चातुर्यामसंवरसंवुतो होति -- अयं वुच्चाति, महाराज निगण्ठो गतत्तो च यतत्तो च ठितत्तो चा ति।" (दीघनिकाय २/५/२८) नाटपुत्तपादे चातुर्यामसंवरसंवुतो हि चतुकोट्ठासेन संवरेन संवुतो। सब्बवारितो चाति वारितसब्बउदको पटिकिखत्तसब्बसीतोदको ति अत्थो। सो किर सीतोदके सत्तसंञ्ज होति, तस्मा न तं वलञ्जेति। सब्बवारियुत्तो ति सब्बेन पापवारणेन युत्तो। सब्बवारिधुतो ति सब्बेन पापवारणेन धुत्तपापो। सब्बवारिफुटो ति सब्बेन पापवारणेन फुट्ठो।

गतत्तो ति कोटिप्पत्तचित्तो। यतत्तो ति संयतचित्तो। ठितत्तो (दी.नि., 1.50) ति सुप्पतिट्ठितचित्तो। एतस्स वादे किंचि सासनानुलोमं पि अत्थि, असुद्धलद्धितायन सब्बा दिट्ठयेव जाता। -- सुमंगल विलासिनी अट्टकथा (पृ. १८६) ऐसा कहने पर भन्ते। निगण्ठनाथपुत्त ने यह उत्तर दिया -- महाराज ! निगण्ठ चार संवरों से संवृत रहता है। महाराज ! निगण्ठ चार संवरों से कैसे संवृत रहता है ? महाराज ! 1. निगण्ठ जल के व्यवहार का वारण करता है ( जिसमें जल के जीव न मारे जावें ), 2. सभी पापों का वारण करता है, 3. सभी पापों के वारण करने से धूतपाप होता है, 4. सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है। महाराज निगण्ठ इस प्रकार चार संवरों से संवृत रहता है। महाराज निगण्ठ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत रहता है, इसीलिए वह निर्ग्रन्थ, गतात्मा, यतात्मा और स्थितात्मा कहलाता है।"

वस्तुतः यहाँ राहुल जी जिन्हें चार्तुर्याम संवर कह रहे हैं, वे चार्तुर्याम संवर हैं होकर निर्ग्रन्थ साधक चार्तुर्याम संवर का पालन किस प्रकार करता है उसके सम्बन्ध में उल्लेख है मेरी दृष्टि में यहाँ "कथं" का अर्थ कौन से न होकर किस प्रकार है चार्तुर्याम के रूप में जैनान्ते में जिनका विवरण प्रस्तुत किया गया है वे निम्न हैं --

1. प्राणातिपात विरमण
2. मृषावाद विरमण
3. अदत्तादान विरमण
4. बहिर्दादान विरमण ( परिग्रह त्याग )

जैन आगम स्थानांग, समवायांग आदि में चार्तुर्याम संवर का उल्लेख इसी रूप में मिलता है।

दीघनिकाय के इस अंश का जो अर्थ राहुलजी ने किया है वह भी त्रुटिपूर्ण है। प्रथमतः यहाँ वारि शब्द का अर्थ जल न होकर वारण करने योग्य अर्थात् पाप है। सूत्रकृतांग में वीरस्तुति में महावीर को "वारिय सव्ववार" (सूत्रकृतांग, 1/6/28) कहा गया है। यहाँ "वार" शब्द "पाप" के अर्थ में ही है, जल के अर्थ में नहीं है। पुनः जैन मुनि मात्र सचित्तजल (जीवनयुक्त जल) के उपयोग का त्याग करता है, सर्वजल का नहीं। अतः सुमंगलविलासिनी अट्टकथाकार एवं राहुलजी द्वारा यहाँ वारि या जल अर्थ करना अयुक्तिसंगत है। क्योंकि एक वाक्यांश में "वारि" का अर्थ जल करना और दूसरे में उसी "वारि" शब्द का अर्थ "पाप" करना समीचीन नहीं है। चूँकि निर्ग्रन्थ सचित्त (जीवन-युक्त) जल के त्यागी होते थे, स्नान नहीं करते वस्त्र नहीं धोते थे। अतः इन्हीं बातों को आधार मानकर यहाँ "सव्ववारिवारितो" का अर्थ जल का त्याग करते हैं, यह मान लिया गया, किन्तु स्वयं सुमंगल विलासिनी टीका या अट्टकथा में भी स्पष्ट उल्लेख है कि निर्ग्रन्थ मात्र सचित्त जल का त्यागी होता है, सर्वजल का नहीं, अतः वारि का अर्थ जल करना उचित नहीं है। दीघनिकाय की अट्टकथा में "वारि" का जो भ्रान्त अर्थ जल किया गया था, राहुलजी का यह अनुवाद भी उसी पर आधारित है। अतः इस भ्रान्त अर्थ

करने के लिये राहुलजी उतने दोषी नहीं हैं, जितने सुमंगलविलासिनी के कर्त्ता। सम्भवतः निर्गन्थों ने जलीय जीवों की हिंसा से बचने के लिये जल के उपयोग पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उसी से अर्थ और टीका में यह भ्रान्ति हुई है। आगे इसी क्रम में उन्होंने स्वयं "वारि" का अर्थ "पाप" करके सब्बवारियुत्तो का अर्थ वह सब पापों का वारण करता है, किया है। किन्तु यह अर्थ मूलपाठ के अनुरूप नहीं है, क्योंकि यहाँ वारि का अर्थ पाप करके भी युत्तो का अर्थ वारण करना -- किया गया है, वह समुचित नहीं है, क्योंकि पालीकोशों के अनुसार युत्तो शब्द का अर्थ किसी भी स्थिति में "वारण" नहीं हो सकता है। कोश के अनुसार तो इस युक्त का अर्थ लिप्त होता है, अतः इस वाक्यांश का अर्थ होगा -- वह सर्व पापों से युक्त या लिप्त होता है -- जो निश्चय ही इस प्रसंग में गलत है। मेरी दृष्टि में यहाँ मूलपाठ में भ्रान्ति है -- सम्भवतः मूलपाठ "युत्तो" न होकर "यतो" होना चाहिए। क्योंकि मूलपाठ में आगे निर्गन्थ के लिये "यतो" विशेषण का प्रयोग हुआ है, जो "यतो" पाठ की पुष्टि करता है। यदि हम मूलपाठ "युत्तो" ही मानते हैं उसे "अयुत्तो" मानकर वारि+अयुत्तो की संधि प्रक्रिया में "अ" का लोप मानना होगा। प्राकृत व्याकरण और सम्भवतः पालि व्याकरण में भी स्वर-सन्धि के नियमों में दो स्वरों की सन्धि में विकल्प से एक स्वर का लोप माना जाता है। अतः मूल पाठ "अयुत्तो" होना चाहिये, किन्तु सुमंगलविलासिनी में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। (पठमोभागो, पृ.189), अपितु उसमें संधि तोड़कर "युत्तो" पाठ ही है। किन्तु यतो पाठ मानने पर इस अंश का अर्थ होगा, वह सब पापों के प्रति संयमवान या उनका नियंत्रण करने वाला होता है। अतः राहुल जी का यह अनुवाद भी मेरी दृष्टि में मूलपाठ से संगतिपूर्ण नहीं है, फिर भी उन्होंने वह सर्वपापों का वारण करता है, ऐसा जो अर्थ किया है, वह सत्य के निकट है। मूलपाठ भ्रान्त और टीका के अस्पष्ट होते हुए भी, उन्होंने यह अर्थ किस आधार पर किया मैं नहीं जानता, सम्भवतः यह उनकी स्वप्रतिभा से ही प्रसूत हुआ होगा। फिर भी पालि के विद्वानों को इस समस्या पर विचार करना चाहिए। इसके आगे सब्बवारिधुतो का अर्थ -- वह सभी पापों से रहित होता है-- संगतिपूर्ण है। किन्तु आगे सब्बवारिफुटो का अर्थ -- वह सभी पापों से रहित होता है -- संगतिपूर्ण है। किन्तु आगे सब्बवारिफुटो का अर्थ पुनः मूल से संगति नहीं रखता है। राहुलजी ने इसका अर्थ वह सभी पापों के वारण में लगा रहता है -- किस प्रकार किया मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। क्योंकि किसी भी स्थिति में "फुटो" का अर्थ-वारण करने में लगा रहता है, नहीं होता है। पालि के विद्वान इस पर भी विचार करें। मूल के फुटो अथवा सुमंगलविलासिनी टीका के फुटो का संस्कृत रूप स्पृष्ट या स्पष्ट होगा। इस आधार पर इसका अर्थ होगा वह सब पापों से स्पृष्ट अर्थात् स्पर्शित या व्याप्त होता है, किन्तु यह अर्थ भी संगतिपूर्ण नहीं लगता है-- निर्गन्थ ज्ञातपुत्र स्वयं अपने निर्गन्थों को सब पापों से स्पर्शित तो नहीं कह सकते हैं। यहाँ भी राहुल जी ने अर्थ को संगतिपूर्ण बनाने का प्रयास तो किया, किन्तु वह मूलपाठ के साथ संगति नहीं रखता है। पालि अंग्रेजी कोश में राइसडेविड्स ने भी इन दोनों शब्दों के अर्थ निश्चय में कठिनाई का अनुभव किया है। मेरी दृष्टि में यहाँ भी या तो मूलपाठ में कोई भ्रान्ति है या पालि व्याकरण के स्वर संधि के नियम से "अफुटो" के "अ" का लोप हो गया है। मेरी दृष्टि में मूलपाठ होना चाहिए -- सब्बवारिअफुटो. तभी इसका अर्थ होगा वह सर्व पापों से अस्पर्शित



होता है। यहाँ भी राहुलजी अर्थ की संगति बैठाने का जो प्रयास किया है वह उचित तो है। किन्तु मूल पाठ एवं अट्टकथा (टीका) के सम्बन्ध में उनकी ओर कोई टिप्पणी नहीं होना पाठक के लिये एक समस्या बन जाती है। मेरी दृष्टि में दीघनिकाय के उस समग्र अंश का पाठ शुद्धि के पश्चात् वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये -- "हे महाराज, निर्गन्थ चातुर्याम संवर से संवृत होता है, वह चार्तुयाम संवर से किस प्रकार संवृत होता है ? हे महाराज ! निर्गन्थ सब पापों का वारण करता है। वह सर्वपापों के प्रति संयत या उनका नियन्त्रण करने वाला होता है। वह सभी पापों से रहित (धूत) और सभी पापों से अस्पर्शित होता है।

इसी प्रसंग में आदरणीय राहुलजी ने महावीर को सर्वज्ञातावादी कहा है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 494) यह सत्य है कि महावीर को प्राचीनकाल से ही "सर्वज्ञ" कहा जाता था। सूत्रकृतांग के वीरस्तुति नामक छठे अध्याय में उन्हें सर्वप्रथम सर्वज्ञ (सवन्नु) कहा गया है -- किन्तु प्राचीनकाल में जैन परम्परा सर्वज्ञ का अर्थ आत्मज्ञ ही होता था। आचारांग के -- जे एणं जाणई ते सव्वं जाणई" एवं भगवती के "केवलि सिय जाणइ सिय ण जाणइ" -- पाठ से तथा कुन्दकुन्द के इस कथन से "केवलि निश्चय नय से केवल आत्मा को जानता है" -- इसी तथ्य की पुष्टि होती है। सर्वज्ञ का यह अर्थ है कि वह सर्वद्रव्यों एवं पर्यायों का त्रिकाल ज्ञाता होता है, परवर्तीकाल में निर्धारित हुआ। आगे चलकर सर्वज्ञ का यही अर्थ रूढ़ हो गया और सर्वज्ञ के इसी व्युत्पत्तिपरक अर्थ को मानकर बौद्ध त्रिपिटक में उनकी सर्वज्ञता की निन्दा भी की गई। "सर्वज्ञ" या "केवलि" शब्द के प्राचीन पारिभाषिक एवं लाक्षणिक अर्थ के स्थान पर इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर बल देने से ही यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। किन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना बुद्ध और महावीर दोनों के साथ घटित हुई, जो बुद्ध सर्वज्ञतावाद के आलोचक रहे, उन्हें भी परवर्ती बौद्ध साहित्य में उसी अर्थ में सर्वज्ञ मान लिया गया है, जिस अर्थ में परवर्ती जैन परम्परा में तीर्थंकरों को और न्याय परम्परा में ईश्वर को सर्वज्ञ कहा गया है। वास्तविक रूप में प्राचीनकाल में महावीर को उस अर्थ में सर्वज्ञ नहीं कहा जाता था, जिस अर्थ में पालित्रिपिटक व परवर्ती जैन साहित्य में उन्हें सर्वज्ञ कहा गया है। दुर्भाग्य से राहुल जी ने भी सर्वज्ञ का यही परवर्ती अर्थ ले लिया है। जबकि सर्वज्ञ का प्राचीन अर्थ तो जैन परम्परा में आत्मज्ञ और बौद्ध परम्परा में हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञाता ही रहा है।

राहुल जी का यह कथन भी किसी सीमा तक सत्य है कि जैनधर्म में प्रारम्भ से ही शारीरिक कार्यों को प्रधानता पर शारीरिक तपस्या पर बल दिया गया है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 495-496)। किन्तु उनकी इस धारणा का आधार भी बौद्धत्रिपिटक साहित्य में महावीर के जीवन और दर्शन का जिस रूप में प्रस्तुतिकरण हुआ है वही है -- यहाँ भी उन्होंने जैन आगमों को देखने का प्रयास नहीं किया है। वास्तविकता तो यह है कि जैनदर्शन भी बौद्धों के समान ही मानसकर्म को ही प्रधान मानता है, फिर भी इतना अवश्य सत्य है कि वह कायिककर्म या कायिकसाधना को मानसिककर्म की अनिवार्य फलश्रुति मानता है वह कहता है कि जो विचार में होता है वही आचार में होता है। विचार (मानसकर्म) और आचार (कायिककर्म) का द्वैत उसे मान्य नहीं है। विचार से कुछ और आचार में कुछ, इसे जैनधर्म आत्म प्रवृत्तना मानता है, मन

से सत्य को समझते हुए अन्यथा रूप में आचरण करना पाप है। मन में अहिंसा और क्रोध तथा व्यवहार में क्रूरता या हिंसा यह छलना ही है।

राहुलजी की यह टिप्पणी भी सत्य है कि महावीर ने स्वयं अपने जीवन में और जैनसाधकों में शारीरिक तपों को आवश्यक माना है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि महावीर ने देह-दण्डन या आत्म-पीड़न के समर्थक थे। उन्होंने उत्तराध्ययन में तप के बाह्य और आभ्यान्तर ऐसे दो पक्ष माने थे और दोनों पर ही समान बल दिया था। स्वाध्याय, सेवा और ध्यान भी उनकी दृष्टि में तप के ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं। अतः राहुलजी का महावीर को शारीरिक पक्ष पर बल देने वाला और आभ्यान्तर पक्ष की अवहेलना कर लेने वाला मानना-समुचित नहीं है।

अनेकान्तवादी जैनदर्शन के सम्बन्ध में उनकी यह टिप्पणी है कि अनेकान्त और स्याद्वाद का विकास संजय वेलट्टीपुत्त के विक्षेपवाद से हुआ, भी पूर्णतः सत्य नहीं है (दर्शन-दिग्दर्शन, पृ. 595)। वस्तुतः संजय के विक्षेपवाद का बौद्धों के विभज्यवाद एवं शून्यवाद का और जैनों के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का विकास औपनिषदिक चतुष्कोटियों और विभज्यवादी दृष्टिकोण से हुआ है।

दर्शन-दिग्दर्शन (पृ. ५६७) में एक स्थल पर उन्होंने जैनधर्म के जिन पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया वह भी भ्रान्त है -- उन्होंने जिन पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया है वे हैं -- जीव, अजीव, धर्म, आकाश और पुद्गल। इसमें अजीव को निरर्थक रूप में जोड़ा है और "अधर्म" को छोड़ दिया है, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सभी अजीव ही माने गये हैं।

जैनधर्म के सम्बन्ध में राहुलजी की यह टिप्पणी कि उनकी पृथ्वी, जल आदि के जीवों की अहिंसा के विचार ने जैनधर्म की अनुयायियों को कृषि के विमुख कर वणिक बना दिया। वे उत्पादक श्रम से हटकर परोपजीवी हो गये। उनका यह मन्तव्य भी किसी सीमा तक उचित तो है -- किन्तु पूर्णतः सत्य नहीं है। आज भी बुन्देलखण्ड, मेवाड़, महाराष्ट्र और कर्नाटक में जैनजातियाँ कृषि पर आधारित हैं और उन्हें कृषिकर्म करते हुए देखा जा सकता है। प्राचीन आगम भगवतीसूत्र से इस प्रश्न पर कि कृषिकर्म में कृमि आदि की हिंसा की जो घटना घटित हो जाती है, उसके लिये गृहस्थ उत्तरदायी है या नहीं, गंभीर रूप से विचार हुआ है। उसमें यह माना गया है कि कोई भी गृहस्थ की जाने वाली हिंसा का उत्तरदायी होता है, हो जाने वाली हिंसा का नहीं। कृषि करते हुए जो प्राणीहिंसा हो जाती है, उसके लिये गृहस्थ उत्तरदायी नहीं है। इसी प्रकार जैनों का अहिंसा का सिद्धान्त व्यक्ति को कायर या भगोड़ा नहीं बनाता है। वह गृहस्थ के लिये अक्रामक हिंसा का निषेध करता है, सुरक्षात्मक हिंसा (विरोधी-हिंसा) का नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म के सम्बन्ध में राहुलजी के मन्तव्य आंशिक सत्य होकर भी अपूर्ण या एकांगी है। क्योंकि उन्होंने इस सम्बन्ध में जैन श्रोतों की खोज-बीन का प्रयत्न नहीं किया है।

## ऋग्वेद में अर्हत और ऋषभवाची ऋचायें : एक अध्ययन

- प्रो. सागरमल जैन

भारतीय संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतियों का समन्वित रूप है। जहाँ श्रमण संस्कृति तप-त्याग एवं ध्यान साधना प्रधान रही है, वहाँ ब्राह्मण संस्कृति यज्ञ-याग मूलक एवं कर्मकाण्डात्मक रही है। हम श्रमण संस्कृति को आध्यात्मिक एवं निवृत्तिपरक अर्थात् संन्यासमूलक भी कह सकते हैं, जबकि ब्राह्मण संस्कृति को सामाजिक एवं प्रवृत्तिमूलक कहा जा सकता है। इन दोनों संस्कृतियों के मूल आधार तो मानव-प्रकृति में निहित वासना और विवेक अथवा भोग और योग (संयम) के तत्त्व ही हैं, जिनकी स्वतन्त्र चर्चा हमने अपने ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध एवं गीता का साधना मार्ग' की भूमिका में की है<sup>१</sup>। यहाँ पर इन दोनों संस्कृतियों के विकास के मूल उपादानों एवं उनके क्रम तथा वैशिष्ट्य की चर्चा में न जाकर उनके ऐतिहासिक अस्तित्व को ही अपनी विवेचना का मूल आधार बनायेंगे।

भारतीय संस्कृति के इतिहास को जानने के लिये प्राचीनतम साहित्यिक स्रोत के रूप में वेद और प्राचीनतम पुरातात्विक स्रोत के रूप में मोहनजोदड़ो एवं हरप्पा के अवशेष ही हमारे आधार हैं। संयोग से इन दोनों ही आधारों या साक्ष्यों से भारतीय श्रमण धारा के अति प्राचीन काल में भी उपस्थित होने के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। यद्यपि इसकी अति प्राचीनता के अनेक दावे किये जाते हैं और मीमांसक दर्शनधारा के विद्वान तो इसे अनादि और अपौरुषेय भी मानते हैं फिर भी इतना निश्चित है कि ईस्वी पूर्व 1500 वर्ष पहले यह अपने वर्तमान स्वरूप में अस्तित्व में आ चुका था। इस प्राचीनतम ग्रन्थ में हमें श्रमण संस्कृति के अस्तित्व के संकेत उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में भारतीय संस्कृति की इन श्रमण और ब्राह्मण धाराओं का निर्देश क्रमशः आर्हत और बार्हत धाराओं के रूप में मिलता है। साथ ही मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त वृषभ युक्त ध्यान मुद्रा में योगियों की सीले इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि ऋग्वेद के रचनाकाल के पूर्व भी भारत में श्रमण धारा का न केवल अस्तित्व था, अपितु वही एक मात्र प्रमुख धारा थी। क्योंकि मोहनजोदड़ो और हरप्पा के उत्खनन में कहीं भी यज्ञवेदी उपलब्ध नहीं हुई है इससे यही सिद्ध होता है कि भारत में तप एवं ध्यान प्रधान आर्हत परम्परा का अस्तित्व अति प्राचीन काल से ही रहा है।

यदि हम जैन धर्म के प्राचीन नामों के सन्दर्भ में विचार करें तो यह सुरस्पष्ट है कि प्राचीन काल में यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रसिद्ध रहा है। वास्तविकता तो यह है कि जैन धर्म का पूर्व रूप आर्हत धर्म था। ज्ञातव्य है कि जैन-शब्द महावीर के निर्वाण के लगभग 1000 वर्ष

- ऋषभदेव प्रतिष्ठान देहली द्वारा आयोजित १४ से १६ मार्च १९६३ की संगोष्ठी में पठित आलेख

पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है। सातवीं शती से पूर्व हमें कहीं भी जैन शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि इसकी अपेक्षा 'जिन' व 'जिन-धम्म' के उल्लेख प्राचीन हैं। किन्तु अर्हत, श्रमण, जिन आदि शब्द बौद्धों एवं अन्य श्रमण धाराओं में भी सामान्यरूप से प्रचलित रहे हैं। अतः जैन परम्परा की उनसे पृथक्ता की दृष्टि से पार्श्व के काल में यह धर्म निर्गन्धधर्म के नाम से जाना जाता था। जैन आगमों से यह ज्ञात होता है कि ई.पू. पाचवीं शती में श्रमण धारा मुख्य रूप से 5 भागों में विभक्त थीं -- 1. निर्गन्ध, 2. शाक्य, 3. तापस 4. गैरुक और 5. आजीवक<sup>2</sup>। वस्तुतः जब श्रमण धारा विभिन्न वर्गों में विभाजित होने लगी तो जैन धारा के लिए पहले 'निर्गन्ध' और बाद में 'ज्ञातपुत्रीय श्रमण' शब्द का प्रयोग होने लगा। न केवल पाली त्रिपिटक एवं जैन आगमों में अपितु अशोक ( ई.पू. -3 शती ) के शिलालेखों में भी जैनधर्म का उल्लेख निर्गन्ध धर्म के रूप में ही मिलता है<sup>3</sup>।

वस्तुतः पार्श्वनाथ एवं महावीर के युग में प्रचलित धर्म से पूर्व सम्पूर्ण श्रमण धारा आर्हत परम्परा के रूप में ही उल्लेखित होती थी और इसमें न केवल जैन, बौद्ध, आजीवक आदि परम्परायें सम्मिलित थीं, अपितु औपनिषदिक-ऋषि परम्परा और सांख्य-योग की दर्शनधारा एवं साधना-परम्परा भी इसी में समाहित थी। यह अलग बात है कि औपनिषदिक धारा एवं सांख्य-योग परम्परा के बृहद् हिन्दूधर्म में समाहित कर लिये जाने एवं बौद्ध तथा आजीवक परम्पराओं के क्रमशः इस देश से निष्कासित अथवा मृतप्रायः हो जाने पर जैन परम्परा को पुनः पूर्व मध्ययुग में आर्हत धर्म नाम प्राप्त हो गया। किन्तु यहाँ हम जिस आर्हत परम्परा की चर्चा कर रहे हैं, वह एक प्राचीन एवं व्यापक परम्परा है। ऋषिभाषित नामक जैन ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, अरुण, उद्दालक, अंगिरस, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों का अर्हत ऋषि के रूप में उल्लेख हुआ है। साथ ही सारिपुत्र, महाकाश्यप आदि बौद्ध श्रमणों एवं मंखलीगोशाल, संजय आदि अन्य श्रमण परम्परा के आचार्यों का भी अर्हत ऋषि के रूप में उल्लेख हुआ है<sup>4</sup>। बौद्ध परम्परा में बुद्ध के साथ साथ अर्हत अवस्था को प्राप्त अन्य श्रमणों को अर्हत कहा जाता था। बुद्ध के लिये अर्हत विशेषण सुप्रचलित था, यथा -- नमोतस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स। इस प्रकार प्राचीन काल में श्रमण धारा अपने समग्र रूप में आर्हत परम्परा के नाम से ही जानी जाती थी। वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से ऋग्वेद में आर्हत व बार्हत धाराओं का उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है<sup>5</sup>। आर्हत धर्म वस्तुतः वहाँ निवृत्तिप्रधान सम्पूर्ण श्रमणधारा का ही वाचक है। आर्हत शब्द से ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आर्हत-अर्हतों के उपासक थे और अर्हत अवस्था को प्राप्त करना ही अपनी साधना का लक्ष्य मानते थे। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के पूर्व वज्रियों के अपने अर्हतों एवं चैत्यों की उपस्थिति के निर्देश है<sup>6</sup>। आर्हतों से भिन्न वैदिक परम्परा ऋग्वैदिक काल में बार्हत नाम से जानी जाती थी।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 85 वें सूक्त की चतुर्थ ऋचा में स्पष्ट रूप से बार्हत शब्द उल्लेख हुआ है। वह ऋचा इस प्रकार है -

आच्छादितानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।

शाव्यामिच्छृणवन् तिष्ठासि न ते अश्रान्ति पार्थिवः ॥ - ऋग्वेद 10 185 14

अर्थात् हे सोम । तू गुप्त विधि विधानों से रक्षित बार्हत गणों से संरक्षित है । तू ( सोमलता के ) पीसने वाले पत्थरों का शब्द सुनते ही रहता है । तुझे पृथ्वी का कोई भी सामान्य जन नहीं खा सकता ।

बृहती वेद को कहते हैं<sup>7</sup> और इस बृहती के उपासक बार्हत कहे जाते थे । इस प्रकार वेदों में वर्णित सोमपान एवं यज्ञ-याग में निष्ठा रखने वाले और उसे ही अपनी धर्म साधना का सर्वस्व मानने वाले लोग ही बार्हत थे । इनके विपरीत ध्यान और तप साधना को प्रमुख मानने वाले व्यक्ति आर्हत नाम से जाने जाते थे । वैदिक साहित्य में हमें स्पष्ट रूप से अर्हत् को मानने वाले इन आर्हतों के उल्लेख उपलब्ध हैं । ऋग्वेद में अर्हन् और अर्हन्त शब्दों का प्रयोग नौ ऋचाओं में दस से अधिक बार हुआ है<sup>8</sup> । सामान्यतया वैदिक, विद्वानों ने इन ऋचाओं में प्रयुक्त अर्हन् शब्द को पूजनीय के अर्थ में अग्नि, रुद्र आदि वैदिक देवताओं के विशेषण के रूप में ही व्याख्यायित किया है । यह सत्य है कि एक विशेषण के रूप में अर्हन् या अर्हत् का शब्द का अर्थ पूजनीय होता है, किन्तु ऋग्वेद में अर्हन् के अतिरिक्त अर्हन्त शब्द का स्पष्ट स्वतन्त्र प्रयोग यह बताता है कि वस्तुतः वह एक संज्ञा पद भी है और अर्हन्त देव का वाची है । इस सन्दर्भ में निम्न ऋचाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं -

अर्हविषिभिर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।

अर्हन्निदं दंयसे विश्वमम्बं न वा ओजीयो रुद्र-त्वदस्ति ॥ ( 2. 33. 10 )

प्रस्तुत ऋचा को रुद्र सूक्त के अन्तर्गत होने के कारण वैदिक व्याख्याकारों ने यहाँ अर्हन् शब्द को रुद्र का एक विशेषण मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है--

हे रुद्र ! योग्य तू बाणों और धनुष को धारण करता है । योग्य तू, पूजा के योग्य और अनेक रूपों वाले सोने को धारण करता है । योग्य तू इस सारे विस्तृत जगत् की रक्षा करता है । हे रुद्र, तुझसे अधिक तेजस्वी और कोई नहीं है ।

जैन दृष्टि में इस ऋचा को निम्न प्रकार से भी व्याख्यायित किया जा सकता है --

हे अर्हन् ! तू ( संयम रूपी ) शस्त्रों ( धनुष-बाण ) को धारण करता है ? और सांसारिक जीवों में प्राण रूप स्वर्ण का त्याग कर देता है ? निश्चय ही तुझसे अधिक बलवान और कठोर और कोई नहीं है । हे अर्हन् तू विश्व की अर्थात् संसार के प्राणियों की मातृवत् दया करता है ।

प्रस्तुत प्रसंग में अर्हन् की ब्याज रूप से स्तुति की गयी है । यहाँ शस्त्र धारण करने का तात्पर्य कर्म शत्रुओं या विषय वासनाओं को पराजित करने के लिए संयम रूपी शस्त्रों के धारण करने से है । जैन परम्परा में 'अरिहत' शब्द की व्याख्या शत्रु का नाश करने वाला, इस रूप में की गई है । आचारांग में साधक को अपनी वासनाओं से युद्ध करने का निर्देश दिया गया है ।<sup>9</sup>

इसी प्रकार ब्याज रूप से यह कहा गया है कि जहाँ सारा संसार स्वर्ण के पीछे भागता है, वहाँ तू इसका त्याग करता है। यहाँ यजतं शब्द त्याग का वाची माना जा सकता है। अतः तुझे अधिक कठोर व समर्थ कौन हो सकता है ? प्रस्तुत प्रसंग में 'अर्हन् दयसे विश्वमम्बं' शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें अर्हन् को विश्व के सभी प्राणियों की दया करने वाला तथा मानव कहा गया है, जो जैन परम्परा का मूल आधार है। इसी प्रकार पंचम मण्डल के बावनेवें सूक्त की पाँचवीं ऋचा भी महत्त्वपूर्ण है --

अर्हन्तो ये सुदानयो नरो असाग्निशवसः ।

प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्येः ॥ ऋग्वेद 5 । 52 । 5

सायण की व्याख्या के अनुसार इस ऋचा का अर्थ इस प्रकार है--

जो पूज्य, दानशूर सम्पूर्ण बल से युक्त तथा तेजस्वी द्यौतमान नेता है, उन पूज्य वीर-मरुतों के लिए यज्ञ करो और उनकी पूजा करो।

हम प्रस्तुत ऋचा की भी जैन दृष्टि से निम्न व्याख्या कर सकते हैं --

जो दानवीर, तेजस्वी, सम्पूर्ण वीर्य से युक्त, नर श्रेष्ठ अर्हन्त हैं, वे याज्ञिकों के लिए यज्ञ के और मरुतों के लिए अर्चना के विषय हैं।

इसी प्रकार से अर्हन् शब्द वाची अन्य ऋचाओं की भी जैन दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। वैदिक ऋचाओं की व्याख्याओं के साथ कठिनाई यह है कि उनकी शब्दानुसारी सरल व्याख्या सम्भव नहीं होती है, लक्षणा प्रधान व्याख्या ही करनी होती है। अतः उन्हें अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है।

ऋग्वेद में न केवल सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से जैन परम्परा से सम्बन्धित अर्हन्, अर्हन्त, व्रात्य, बातरशनामुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है, अपितु उसमें आर्हत परम्परा के उपास्य वृषभ का भी शताधिक बार उल्लेख हुआ है। मुझे ऋग्वेद में वृषभ वाची 112 ऋचाएँ उपलब्ध हुई हैं। सम्भवतः कुछ और ऋचाएँ भी मिल सकती हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन समस्त ऋचाओं में प्रयुक्त 'वृषभ' शब्द ऋषभदेव का ही वाची है। फिर भी कुछ ऋचाएँ तो अवश्य ही ऋषभदेव से सम्बन्धित मानी जा सकती हैं। डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जीमर, प्रो. वीरपाक्ष वाडियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान भी इस मत के प्रतिपादक हैं कि ऋग्वेद में जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से सम्बन्धित निर्देश उपलब्ध होते हैं<sup>10</sup>। आर्हत धारा के आदि पुरुष के रूप में ऋषभ का नाम सामान्य रूप से स्वीकृत रहा है। क्योंकि हिन्दू पुराणों एवं बौद्ध ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है। जैनों ने उन्हें अपना आदि तीर्थंकर माना है। इतना सुनिश्चित है कि ऋषभदेव भारतीय संस्कृति की निवृत्तिप्रधान धारा के प्रथम पुरुष हैं। हिन्दू परम्परा में जो अवतारों की चर्चा है, उसमें ऋषभ का क्रम 8वाँ है, किन्तु यदि मानवीय रूप में अवतार की दृष्टि से विचार करें तो लगता है कि वे ही प्रथम मानवावतार थे। यद्यपि ऋषभ की अवतार रूप में स्वीकृति हमें सर्वप्रथम पुराण साहित्य में विशेषतः भागवत

में मिलती है, जो कि परवर्ती ग्रन्थ है। किन्तु इतना निश्चित है कि श्रीभद्रभागवत में वृषभ का जिस रूप में प्रस्तुतिकरण है, वह उन्हें निवृत्तिप्रधान श्रमण संस्कृति का आदि पुरुष मानता है<sup>11</sup>। श्रीभद्रभागवत पुराण के अतिरिक्त लिंगपुराण, शिवपुराण, आग्नेयपुराण, ऋग्वेदपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, वराहपुराण और स्कन्ध पुराण में भी ऋषभ का उल्लेख वृषभ धर्म प्रवर्तक के रूप में हुआ है<sup>12</sup>। यद्यपि प्रस्तुत निबन्ध में हम ऋग्वेद में उपलब्ध वृषभ ऋचाओं की ही चर्चा तक अपने को सीमित करेंगे।

ऋग्वेद में 'वृषभ' शब्द का प्रयोग किन्-किन् सन्दर्भों में हुआ है यह अभी भी एक गहन अध्ययन का विषय है, जहाँ एक ओर अधिकांश वैदिक विद्वान व भाष्यकार ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ (वृषभ) शब्द का अर्थ बैल<sup>13</sup>, बलवान<sup>14</sup>, उत्तम, श्रेष्ठ<sup>15</sup> वर्षा करने वाला<sup>16</sup>, कामनाओं को पूर्ति करने वाला<sup>17</sup> आदि करते हैं, वहीं जैन विद्वान उसे अपने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का ही मानते हैं। जैन विद्वानों ने ऋषभदेव की चर्चा के सन्दर्भ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि में अनेक ऋचाएँ प्रस्तुत भी की हैं और उनका जैन संस्कृति अनुसारी अर्थ करने का भी प्रयत्न किया है। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने भी एक ऐसा ही प्रयत्न किया है। किन्तु ऐसा दावा मैं नहीं करता हूँ कि यही एक मात्र विकल्प है। मेरा कथ्य मात्र यह है कि उन ऋचाओं के अनेक अन्वयार्थों में यह भी एक अर्थ हो सकता है, इससे अधिक सुनिश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता है। ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में हमें पर्याप्त सतर्कता एवं सावधानी बरतनी होगी, क्योंकि जहाँ तक वैदिक ऋचाओं का प्रश्न है उनका अर्थ करना एक कठिन कार्य है। अधिक क्या कहें सायण जैसे भाष्यकारों ने भी ऋग्वेद के 10 वें मण्डल के 106 वें सूक्त के ग्यारह मंत्रों की व्याख्या करने में असमर्थता प्रकट की है। मात्र इतना ही नहीं कुछ अन्य मंत्रों के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि इन मंत्रों से कुछ भी अर्थ बोध नहीं होता है। कठिनाई यह है कि सायण एवं महिधर के भाष्यों और ऋग्वेद के रचना काल में पर्याप्त अन्तर है। जो ग्रन्थ ईसा से 1500 वर्ष पूर्व कभी बना हो, उसका ईसा की 15 वीं शती में अर्थ करना कठिन कार्य है क्योंकि इसमें न केवल भाषा की कठिनाई होती है, अपितु शब्दों के रूढ़ अर्थ भी पर्याप्त रूप से बदल चुके होते हैं। वस्तुतः वैदिक ऋचाओं को उनके भौगोलिक व सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझे बिना उनका जो अर्थ किया जाता है, वह ऋचाओं में प्रकट मूल भावों के कितना निकट होगा, यह कहना कठिन है। स्कन्दरवामी, सायण एवं महिधर के बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक मंत्रों की अपनी दृष्टि से व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। यदि हम सायण और दयानन्द की व्याख्याओं को देखें, तो यह स्पष्ट होता है कि सायण एवं दयानन्द की व्याख्याओं में बहुत अधिक अन्तर है। ऋग्वेद में जिन-जिन ऋचाओं में वृषभ शब्द आया है, वे सभी ऋचाएँ ऐसी हैं कि उन्हें अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है।

मूल समस्या तो यह है कि वैदिक ऋचाओं का शाब्दिक अर्थ ग्रहण करें या लाक्षणिक अर्थ। जहाँ तक वृषभ सम्बन्धी ऋचाओं के अर्थ का प्रश्न है मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उनका शब्दानुसारी अर्थ करने पर न तो जैन मन्तव्य की पुष्टि होती है और न आर्यसमाज के मन्तव्यों की पुष्टि होगी, न ही उनसे किसी विशिष्ट दार्शनिक चिन्तन का अवबोध होता है। यद्यपि वैदिक

मंत्रों के अर्थ के लिए सर्वप्रथम यास्क ने एक प्रयत्न किया था, किन्तु उसके निरुक्त में ही यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि उस समय भी, कोत्स आदि आचार्य ऐसे थे, जो मानते थे कि वेदों के मंत्र निरर्थक हैं<sup>18</sup>। यद्यपि हम इस मत से सहमत नहीं हो सकते। वस्तुतः वैदिक ऋचाएँ एक सहज स्वाभाविक मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति हैं किन्तु ऐसा मानने पर वेदों के प्रति जिस आदर भाव या उनकी महत्ता की जो बात है वह क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि स्वामी दयानन्द आदि ने वेदों में रहस्यात्मकता व लाक्षणिकता को प्रमुख माना और उस आधार पर मंत्रों की व्याख्यायें कीं। अतः सबसे प्रथम यह विचारणीय है कि क्या वेद मंत्रों की व्याख्या उन्हें रहस्यात्मक व लाक्षणिक मानकर की जाय अथवा नहीं। क्योंकि यदि हम ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ शब्द को ऋषभदेव के अर्थ में ग्रहण करना चाहते हैं, तो हमारे मत की पुष्टि रहस्यात्मक एवं लाक्षणिक व्याख्याओं द्वारा ही सम्भव है। शब्दानुसारी सामान्य अर्थ की दृष्टि से ऐसी पुष्टि सम्भव नहीं है।

सबसे पहले हम इसी प्रश्न पर विचार करें कि क्या वैदिक ऋचाओं का लाक्षणिक व रहस्यात्मक अर्थ किया जाना चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि अनेक वैदिक ऋचाएँ व मंत्र अपने शब्दानुसारी अर्थ में बहुत ही साधारण से लगते हैं जबकि उनका लाक्षणिक अर्थ अत्यन्त ही गम्भीर होता है। वैदिक ऋचाएँ लाक्षणिक व रहस्यात्मक अर्थ की वाचक हैं यह समझने के लिए पहले हमें औपनिषदिक साहित्य पर भी इस दृष्टि से विचार करना होगा, क्योंकि अनेक उपनिषद् वेदों में समाहित हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में निम्न श्लोक पाया जाता है --

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृज्यमानां सरूपाः ।

अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

यदि हम श्वेताश्वतरोपनिषद् ? के इस श्लोक का शब्दानुसारी यह अर्थ करते हैं कि एक काले, लाल व सफेद रंग की बकरी है, जो अपने समान ही संतान को जन्म देती है। एक बकरा उसका भोग कर रहा है, जबकि दूसरे ने उसका भोग करके परित्याग कर दिया है। इस अर्थ की दृष्टि से यह श्लोक एक सामान्य पशु की प्राकृतिक स्थिति का चित्रण मात्र है, लेकिन हम इसके पूर्वापर सम्बन्ध को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि औपनिषदिक ऋषि का यह कथन केवल एक पशु का चित्रण नहीं है, अपितु एक रूपक है, जिसके लाक्षणिक अर्थ के आधार पर वह प्रकृति की त्रिगुणात्मकता के साथ उसके द्वारा सृष्ट पदार्थों के त्रिगुणात्मक स्वरूप को स्पष्ट करना चाहता है। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि वेदों की ऋचाएँ एवं औपनिषदिक श्लोक मात्र सामान्य अर्थ के सूचक नहीं हैं। उनमें अनेक स्थानों पर रूपकों के माध्यम से दार्शनिक रहस्यों के उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है। इस सन्दर्भ में हम ऋग्वेद की ही दसवें मण्डल की एक ऋचा लेते हैं --

ऋतस्य हि सदसो धीतिरघाँत्सं गाष्ट्यो वृषभो गोभिरानट् ।

उदतिष्ठत्तविषेणा रवेण महान्ति चित्सं विव्याचा रजांसि । (10. 111. 2)



इस ऋचा के शाब्दिक अर्थ के अनुसार इसके द्वितीय चरण का अर्थ होगा तरुण गाय से उत्पन्न वृषभ रंभाता हुआ गौओं के साथ मिलता है, किन्तु मात्र इतना अर्थ करने पर ऋचा का भाव स्पष्ट नहीं होता है। इसके पूर्व ऋतस्य ही सदसो धीतिरद्यौत्सं इस पूर्वचरण को भी लेना होता है। इस चरण का अर्थ भी सायण और दयानन्द ने अलग-अलग ढंग से किया है, किन्तु वे अर्थ भी लाक्षणिक ही हैं। जहाँ दयानन्द 'ऋतस्य ही सदसो धीतिरद्यौत्' का अर्थ ऋत की सभा की धारणा शक्ति प्रकाशित हो रही है -- ऐसा अर्थ करते हैं<sup>19</sup>, वहीं सायण भाष्य पर आधारित होकर सातवेलकर इसका अर्थ जल स्थान का अर्थात् अन्तरिक्ष का धारक यह इन्द्र प्रकाशता है, ऐसा अर्थ करते हैं<sup>20</sup>, किन्तु ये दोनों ही अर्थ न तो पूर्णतः शब्दानुसारी हैं और न पूर्णतः लाक्षणिक ही कहे जा सकते हैं। दयानन्द ने उसकी लाक्षणिकता को स्पष्ट करते हुए -- ईश्वर का प्रकाश फैला है ऐसा भावार्थ किया है। लेकिन यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि भारतीय चिन्तन में ईश्वर की अवधारणा एक परवर्ती विकास है। ऋत की अवधारणा प्राचीन है और उसका अर्थ सत्य या व्यवस्था है।

प्रस्तुत प्रसंग में इस ऋचा को वृषभ से संबन्धित मानते हैं तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा-- जिस प्रकार तरुण गाय से उत्पन्न वृषभ गौ समूह के बीच अपनी ध्वनि से सुशोभित होता है, उसी प्रकार ऋषभ के केवल ज्ञान से उत्पन्न सम्यक् वाणी से सत्य की सभा सुशोभित होती है। वह (ऋषभदेव) समवसरण में ऊपर आसीन होकर जिस वाणी का उद्घोष करते हैं, वह अपने तीव्र रव शब्द ध्वनि के द्वारा इस समस्त लोक को व्याप्त करती है। इस प्रकार उपर्युक्त ऋचा का जैन दृष्टि से जो लाक्षणिक अर्थ किया जाता है, वह अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के 58 वें सूक्त की तीसरी ऋचा, जो वृषभ से सम्बन्धित है, के अर्थ पर भी विचार करें। यह ऋचा इस प्रकार है --

*चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य ।*

*त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥ (4.58.3)*

इस ऋचा का शब्दानुसारी सामान्य अर्थ इस प्रकार है --

इस वृषभ अथवा देव के चार सींग, तीन पैर, दो सिर और इसके सात हाथ हैं। यह वृषभ या बलवान देव तीन स्थानों पर बंधा हुआ शब्द करता है, यह महान देव मनुष्यों में प्रविष्ट है<sup>21</sup>। इस शब्दानुसारी अर्थ के आधार पर -- न तो इसमें वृषभ (बैल) का यथार्थ प्राकृतिक स्वरूप का चित्रण है -- यह कहा जा सकता है और न किसी अन्य अर्थ का स्पष्ट बोध होता है। अतः स्वाभाविक रूप से इसके लाक्षणिक अर्थ की ओर जाना होता है।

दयानन्द सरस्वती इसका लाक्षणिक अर्थ इस प्रकार करते हैं--

हे मनुष्यों ! जो बड़ा सेवा और आदर करने योग्य स्वप्रकाश स्वरूप और सब को सुख देने वाला मरणधर्म वाले मनुष्य आदि को सब प्रकार से व्याप्त होता है और जो सुखों को ध्वनि वाला तीन श्रद्धा, परुषार्थ और योगाभ्यास से बंधा हुआ विस्तर उपदेश देता है। इस धर्म

से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमात्मा के बोध के दो उन्नति और मोक्ष रूप शिर स्थानापन्न तीन अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान रूप चलने योग्य पैर और चार वेद श्रृंगों के सदृश आप लोगों को जानने योग्य हैं और इस धर्म व्यवहार के पाँच ज्ञानेन्द्रिय वा पाँच कर्मेन्द्रिय अन्तःकरण और आत्मा ये सात हाथों के सदृश वर्तमान हैं, और उक्त तीन प्रकार से बंधों हुआ व्यवहार भी जानने योग्य है<sup>22</sup>। किन्तु यदि इस उपर्युक्त ऋचा का अर्थ जैन दृष्टि से करें तो तीन योगों अर्थात् मन, वचन व काय से बद्ध या युक्त ऋषभ देव ने यह उद्घोषणा की कि महादेव अर्थात् परमात्मा मृत्यों में ही निवास करता है, उसके अनन्त चतुष्टय रूप अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त सुख व अनन्त वीर्य ऐसे चार श्रृङ्गा हैं और सम्यक् दर्शन, ज्ञान व चारित्र्य रूप तीन पाद हैं। उस परमात्मा के ज्ञान उपयोग व दर्शन-उपयोग ऐसे दो शीर्ष हैं तथा पाँच इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ऐसे सात हाथ हैं। श्रृङ्गा आत्मा के सर्वोत्तम दशा के सूचक हैं जो साधना की पूर्णता पर अनन्त चतुष्टय के रूप में प्रकट होते हैं और पाद उस साधना मार्ग के सूचक हैं जिसके माध्यम से उस सर्वोत्तम आत्म अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। सप्त हस्त ज्ञान प्राप्ति के सात साधनों को सूचित करते हैं। ऋषभ को त्रिधाबद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि वह मन वचन एवं काय योगों की उपस्थिति के कारण ही संसार में है। बद्ध का अर्थ संयत या नियन्त्रित करने पर मन, वचन, व काय से संयत ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि यहाँ जैन दृष्टि से किया लाक्षणिक अर्थ उतना ही समीचीन है, जितना स्वामी दयानन्द का लाक्षणिक अर्थ। इतना अवश्य सत्य है कि इस ऋचा का कोई भी शब्दानुसारी अर्थ इसके अर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। अतः हमें मानना होगा कि वैदिक ऋचाओं के अर्थ को समझने के लिए इनकी लाक्षणिकता को स्वीकार किये बिना अन्य कोई विकल्प नहीं है।

सायण आदि वेदों के भाष्यकारों ने सामान्य रूप में 'वृषभ' शब्द की व्याख्या एक विशेषण के रूप में की है और उसका प्रसंगानुसार बलवान, श्रेष्ठ, वर्षा करने वाला, कामनाओं की पूर्ति करने वाला-ऐसा अर्थ किया है। वे वृषभ को इन्द्र, अग्नि, रुद्र आदि वैदिक देवताओं का एक विशेषण मानते हैं एवं इसी रूप में उसे व्याख्यायित भी करते हैं। चाहे वृषभ का अर्थ बलवान या श्रेष्ठ करें अथवा उसे वर्षा करने वाला या कामनाओं की पूर्ति करने वाला कहे, वह एक विशेषण के रूप में ही गृहीत होता है। यह सत्य है कि अनेक प्रसंगों में वृषभ शब्द की व्याख्या एक विशेषण के रूप में की जा सकती है। स्वयं जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में भी वृषभ शब्द का प्रयोग एक विशेषण के रूप में हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद के अन्त में एक गाथा में वृषभ शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है। वह गाथा निम्नानुसार है--

*उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।*

*अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। - धम्मपद 26 140*

अतः इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है कि वृषभ शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में नहीं हो सकता, किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वृषभ शब्द सर्वत्र

विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त होता है। 'वृषभ' शब्द का प्रयोग साहित्य के क्षेत्र में विशेषण पद व संज्ञा पद दोनों रूपों में ही पाया जाता है।

ऋग्वेद में ही अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ वैदिक विद्वानों ने 'वृषभ' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में माना है। जैसे --

1. त्वं अग्ने वृषभः (1/31/5)
2. वृषभः इन्द्रो (1/33/10)
3. त्वं अग्ने इन्द्रो वृषभः (2/1/3)
4. वृषभं .... इन्द्र (3/47/5)

इस प्रकार के और भी अनेक सन्दर्भ उपस्थित किए जा सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या 'वृषभ' शब्द को सदैव ही एक विशेषण माना जाय।

यह ठीक है कि इन्द्र वर्षा का देवता है। उसे श्रेष्ठ या बलवान माना गया है। अतः उसका विशेषण वृषभ हो सकता है किन्तु इसके विपरीत इन्द्र शब्द को भी वृषभ का विशेषण माना जा सकता है। जैन परम्परा में ऋषभ आदि तीर्थकरों के लिए जिनेन्द्र विशेषण प्रसिद्ध ही है। अथर्ववेद (9.9.7) में इन्द्रस्य रूपं ऋषभो कहकर दोनों को पर्यायवाची बना दिया गया है। इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्य का धारक ऐसा भी होता है। इस रूप में वह वृषभ का विशेषण भी बन सकता है। जिस प्रकार वृषभ को इन्द्र, अग्नि, रुद्र, बृहस्पति आदि का विशेषण माना गया है उसी प्रकार व्याख्या को परिवर्तित करके इन्द्र, रुद्र, अग्नि और बृहस्पति को वृषभ का विशेषण भी माना जा सकता है।

यहाँ वृषभ आप इन्द्र या जिनेन्द्र हैं -- ऐसी व्याख्या भी बहुत असंगत नहीं कही जा सकती है। कुछ जैन विद्वानों की ऐसी मान्यता भी है कि वेदों में 'जात-वेदस' शब्द जो अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है वह जन्म से त्रिज्ञान सम्पन्न ज्योति स्वरूप भगवान ऋषभदेव के लिए ही है। वे यह मानते हैं कि "रत्नधरवत्", "विश्ववेदस", "जातवेदस" आदि शब्द जो वेदों में अग्नि के विशेषण हैं वे रत्नत्रय से युक्त विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सर्वज्ञ ऋषभ के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं। इतना निश्चित है कि ये शब्द सामान्य प्राकृतिक अग्नि के विशेषण तो नहीं माने जा सकते हैं। चाहे उन्हें अग्निदेव का वाची माना जाय या ऋषभदेव का, वे किसी दैवीय शक्ति के ही विशेषण हो सकते हैं। जैन विद्वानों का यह भी कहना है कि अग्नि देव के रूप में ऋषभ की स्तुति का एक मात्र हेतु यही दृष्टिगत होता है, ऋषभदेव स्थूल व सूक्ष्म शरीर से परिनिवृत्त होकर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हुए उस समय उनके परम प्रशान्त स्वरूप को आत्मसात करने वाली अग्नि ही तत्कालीन जनमानस के लिए स्मृति का विषय रह गयी और जनता अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य देव का स्मरण करने लगी। (देवेन्द्रमुनि शास्त्री: ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ. 43)

जैन विद्वानों के इस चिन्तन में कितनी सार्थकता है यह एक स्वतन्त्र चर्चा का विषय है यहाँ मैं उसमें उतरना नहीं चाहता हूँ, किन्तु यह बताना चाहता हूँ कि विशेषण एवं विशेष्य के रूप में प्रयुक्त दोनों शब्दों में यदि संज्ञा रूप में प्रयुक्त होने की सामर्थ्य है तो उनमें किसे विशेषण और

किसे विशेष्य माना जाय -- यह व्याख्याकार की अपनी-अपनी दृष्टि पर ही आधारित होगा साथ ही दोनों को पर्यायवाची भी माना जा सकता है।

ऋग्वेद में रुद्र की स्तुति के सन्दर्भ में भी वृषभ शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं ऋग्वेद में ही एक ओर रुद्र को उग्र एवं शस्त्रों का धारण करने वाला कहा गया वहीं दूसरी ओर उसे विष्णु प्राणियों के प्रति दयावान और मातृवत् भी कहा गया है (2/33/1)। इस ऋचा की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। एक ही व्यक्ति कठोर व कोमल दोनों हो सकता है। ऋषभ के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि ये तप की कठोर साधना करते थे। अतः वे रुद्र भी थे। वैदिक साहित्य में रुद्र, सर्व, पाशुपति, ईश, महेश्वर, शिव, शंकर आदि पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैन दृष्टि से इन्हें वृषभ का विशेषण भी माना गया है। अतः किसे किसका विशेषण माना जाय, वह निर्धारण सहज नहीं है। ऋग्वेद में जो रुद्र की स्तुति है उसमें 5 बार वृषभ शब्द का और 3 बार अर्हन् शब्द का उल्लेख हुआ है। मात्र इतना ही नहीं, रुद्र को अर्हन् शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। इतना तो निश्चित है कि अर्हन् विशेषण ऋषभदेव के लिए ही अधिक समीचीन है क्योंकि यह मान्य तथ्य है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म आर्हत धर्म है। अतः ऋग्वेद में रुद्र की जो स्तुति प्राप्त होती है उसमें यदि रुद्र को वृषभ का विशेषण माना जाय तो वह वृषभ की स्तुति के रूप में भी व्याख्यायित हो सकती है। यद्यपि मैं इसे एक सम्भावित व्याख्या से अधिक नहीं मानता हूँ। इस सम्बन्ध में पूर्ण सुनिश्चितता का दावा करना मिथ्या होगा।

ऋग्वेद में वृषभ शब्द को बृहस्पति के विशेषण के रूप में भी माना गया है। यहाँ भी यही समस्या है। हम बृहस्पति को भी वृषभ का विशेषण बना सकते हैं, क्योंकि ऋषभ को परमज्ञानी माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वृषभ शब्द इन्द्र, अग्नि, रुद्र अथवा बृहस्पति का विशेषण माना जाय या इन शब्दों को वृषभ का विशेषण माना जाय, इस समस्या का सम्यक् समाधान इतना ही हो सकता है कि इन व्याख्याओं में दृष्टिभेद ही प्रमुख है। दोनों व्याख्याओं में किसी को भी हम पूर्णतः असंगत नहीं कह सकते। किन्तु यदि जैन दृष्टि से विचार करें तो हमें मानना होगा कि रुद्र, इन्द्र, अग्नि आदि ऋषभ के विशेषण हैं।

ऋग्वेद में हमें एक सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना यह मिलती है कि अनेक सन्दर्भों में वृषभ का एक विशेषण मरुत्वान् आया है (वृषभो मरुत्वान् (2.33.6))। जैन परम्परा में ऋषभ को मरुदेवी का पुत्र माना गया है। अतः उनके साथ यह विशेषण समुचित प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में वृषभ सम्बन्धी ऋचाओं की व्याख्या के सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट है कि अनेक प्रसंगों में उनकी लाक्षणिक व्याख्या के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रहता है।

ऋग्वेद चतुर्थ मण्डल के अट्ठावनवें सूक्त की तीसरी ऋचा में वृषभ को चार सींगों, तीन पादों या पावों, दो शीर्ष, सात हस्त एवं तीन प्रकार से बद्ध कहा गया है। यह ऋचा स्पष्ट रूप से ऋषभ को समर्पित है। इसमें ऋषभ को मृत्यों में उपस्थित या प्रविष्ट महादेव कहा गया है। इस ऋचा की कठिनाई यह है कि इसे किसी भी स्थिति में अपने शब्दानुसारी सहज अर्थ द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता क्योंकि न तो वृषभ के चार सींग होते हैं, न तीन पाद, न दो

सिद्ध होते हैं, नहीं सात हाथ होते हैं। चाहे हम किसी भी परम्परा की दृष्टि से इस ऋचा की व्याख्या करें लाक्षणिक रूप में ही करना होगा। ऐसी स्थिति में इस ऋचा को जहाँ दयानन्द सरस्वती आदि वैदिक परम्परा के विद्वानों ने हिन्दू परम्परानुसार व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया वही जैन विद्वानों ने इसे जैन दृष्टि से व्याख्यायित किया। जब सहज शब्दानुसारी अर्थ संभव नहीं है तब लाक्षणिक अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प भी शेष नहीं रहता।

इसी प्रकार ऋग्वेद के 7वें मण्डल के पच्चावनवें सूक्त की सातवीं ऋचा (7.55.7) में यह कहा गया है कि सहस्र श्रृंग वाला वृषभ समुद्र से ऊपर आया। यद्यपि वैदिक विद्वान् इस ऋचा की व्याख्या में वृषभ का अर्थ सूर्य करते हैं, वे वृषभ का सूर्य अर्थ इस आधार पर लगाते हैं कि वृषभ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है जो वर्षा का कारण होता है, वह वृषभ है। क्योंकि सूर्य वृष्टि का कारण है, अतः वृषभ का एक अर्थ सूर्य भी हो सकता है। सहस्र श्रृंग का अर्थ भी वे सूर्य की हजारों किरणों से करते हैं, किन्तु जैन दृष्टि से इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि ज्ञान रूपी सहस्रों किरणों से मण्डित ऋषभदेव समुद्रतट पर आये। इसी ऋचा की अगली पंक्ति का शब्दार्थ इस प्रकार है -- उस की सहायता से हम मनुष्यों को सुला देते हैं, किन्तु सूर्य की सहायता से मनुष्यों को कैसे सुलाया जा सकता है यह बात सामान्य बुद्धि की समझ में नहीं आती है। फिर भी सहस्र श्रृंग की व्याख्या तो लाक्षणिक दृष्टि से ही करना होगा। वृषभ शब्द बैल का वाची भी है और ऋग्वेद में बैल के क्रियाकलापों की अग्नि, इन्द्र आदि तुलना भी की गई है जैसे 8वें मण्डल में शिशानो वृषभो यथाग्निः श्रृंग दविध्वत्, (8.68.13) में हम देखते हैं कि अग्नि की तुलना वृषभ से की गयी है और कहा गया है कि जैसे वृषभ अपने सींगों से प्रहार करते समय अपने सिर को हिलाता है उसी प्रकार अग्नि भी अपनी ज्वालाओं को हिलाता है।

इसी प्रकार की अन्य ऋचायें भी हैं -- वृषभो न तिमश्रृंगोऽन्तर्वृथेषु रोरुवत- (10.86.15) तीक्ष्ण सींग वाले वृषभ के समान जो अपने समूह में शब्द करता है। इसका जैन दृष्टि से लाक्षणिक अर्थ यह भी हो सकता है कि तीक्ष्ण प्रज्ञा वाले ऋषभ देव अपने समूह अर्थात् चतुर्विध संघ या परिषदा में उपदेश देते हैं और हे इन्द्र तुम भी उन पर मंथन या चिन्तन करो। ज्ञातव्य है इस ऋचा में 'न' शब्द समानता या तुलना का वाची है। इसी प्रकार 'आशुः शिसानो वृषभो न' (10.103.1) में भी तुलना है।

इस प्रकार ऋग्वेद में वृषभ शब्द तुलना की दृष्टि से बैल के अर्थ में भी अनेक स्थलों में प्रयुक्त हुआ है।

उपर्युक्त समस्त चर्चाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद में जिन-जिन स्थानों पर वृषभ शब्द का प्रयोग हुआ है उन सभी स्थलों की व्याख्या वृषभ को 'ऋषभ' मानकर नहीं की जा सकती है। मात्र कुछ स्थल हैं जहाँ पर ऋग्वेद में प्रयुक्त वृषभ की व्याख्या ऋषभ के सन्दर्भ में की जा सकती है। इनमें भी सम्पूर्ण ऋचा को व्याख्यायित करने के लिये लाक्षणिक अर्थ का ही ग्रहण करना होगा। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वेदिक काल में वृषभ एक उपास्य या स्तुत्य ऋषि के रूप में गृहीत थे।

पुनः ऋग्वेद में वृषभ का रुद्र, इन्द्र, अग्नि आदि के साथ जो समीकरण किया गया है इतना अवश्य बताता है कि यह समीकरण परवर्ती काल में प्रचलित रहा। 6ठीं शती से लेकर 10वीं शती के जैन साहित्य में जहाँ ऋषभ की स्तुति या उसके पर्यायवाची नामों का उल्लेख है, उनमें ऋषभ की स्तुति इसी रूप में की गयी। ऋषभ के शिव, परमेश्वर, शंकर, विधाता आदि नामों की चर्चा हमें जैन परम्परा के प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र में भी मिलती है<sup>23</sup>।

ऋग्वेद में उपलब्ध कुछ ऋचाओं की जैन दृष्टि से ऋषभदेव के प्रसंग में व्याख्या करने के हमने प्रयत्न किया है। विद्वानों से यह अपेक्षा है कि वे इन ऋचाओं के अर्थ को देखें और निश्चित करें कि इस प्रयास की कितनी सार्थकता है। यद्यपि मैं स्वयं इस तथ्य से सहमत हूँ कि इन ऋचाओं का यही एक मात्र अर्थ है ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। अग्रिम पंक्तियों में कुछ ऋचाओं का जैन दृष्टिपरक अर्थ प्रस्तुत है। मेरी व्यस्तताओं के कारण वृषभवाची सभी 11 ऋचाओं का अर्थ तो नहीं कर पाया हूँ मात्र दृष्टि-बोध के लिये कुछ ऋचाओं की व्याख्या प्रस्तुत है। इस व्याख्या के सम्बन्ध में भी मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि इन ऋचाओं के जैन विभिन्न लाक्षणिक अर्थ सम्भव हैं उनमें एक अर्थ यह भी हो सकता है। इससे अधिक मेरा कोई दावा नहीं है।

### ऋषभ वाची ऋग्वैदिक ऋचाओं की जैन दृष्टि से व्याख्या

*असृग्मिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।*

*अजोषा वृषभं पतिम् ॥ (1.9.4)*

हे इन्द्र ! (अजोषा) जिन्होंने स्त्री का त्याग कर दिया है, उन ऋषभ (पतिम्) स्वामा का प्रति आपकी जो अनेक प्रकार की वाणी (स्तुति) है, वह आपकी (भावनाओं) को उत्तमता पूर्वक अभिव्यक्त करती है। (ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में इन्द्र ही सर्वप्रथम जिन की स्तुति करता है - शक्रस्तव (नमोत्थुणं) का पाठ जैनों में सर्व प्रसिद्ध है)

*त्वमग्ने वृषभः पुष्टिवर्धन उद्यतसुचे भवसि श्रवाय्यः ।*

*य आहुतिं परि वेदा वषट्कृतिमेकायुग्ने विश अविवाससि ॥ (1.31.5)*

हे ज्योतिस्वरूप वृषभ ! आप पुष्टि करने वाले हैं जो लोग होम करने के लिए तत्पर हैं उनके लिए आ करके आप सुनने योग्य हैं अर्थात् उन्हें आहूत होकर आपके विचारों को जानना चाहिए। आप का उपदेश जानने योग्य है क्योंकि उसके आधार पर उत्तम क्रियायें की जा सकती हैं। आप एकायु अर्थात् चरम शरीरी हैं और तीर्थकरों में प्रथम या अग्र हैं और प्रजा आप में ही निवास करती है अर्थात् आप की ही आज्ञा का अनुसरण करती है।

[ज्ञातव्य है - वैदिक दृष्टि से अग्नि के लिये एकायु एवं अग्र विशेषण का प्रयोग उतना समीचीन नहीं है जितना वृषभ तीर्थकर के साथ है। उन्हें एकायु कहने का तात्पर्य यह है कि जिनका यही अन्तिम जीवन है। दूसरे प्रथम तीर्थकर होने से उनके साथ अग्र विशेषण भी उपयुक्त है।]

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन् ।

युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत ।। ( 1. 33. 10 )

हे स्वामी ( वृषभदेव ) ! न तो स्वर्ग के और न पृथ्वी के वासी माया और धनादि ( परिग्रह ) से परिभूत होने के कारण आपकी मर्यादा ( आपकी योग्यता ) को प्राप्त नहीं होते हैं । हे वृषभ ! आप समाधियुक्त ( युज ), अतिकठोर साधक, व्रजमय शरीर के धारक और इन्द्रों के भी चक्रवर्ती है - ज्ञान के द्वारा अन्धकार ( अज्ञान ) का नाश करके गा अर्थात् प्रजा को सुखों से पूर्ण कीजिये ।

आ वर्षाणिप्रा वृषभो जनानां राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः ।

स्तुतः श्रवस्यन्नवसोप मद्रिग्युक्ता हरी वृषणा याह्यवर्षा ।। ( 1. 177. 1 )

बहुतों में प्रसिद्ध तथा बहुतों के द्वारा संस्तुत सबके उस विचक्षण बुद्धि महान ऋषभदेव की इस प्रकार स्तुति की जाती है । वह स्तुत्य होकर हमें वीरता, गोधन एवं विद्या प्रदान करें । हम उस तेजस्वी ( ज्ञान ) दाता को जाने या प्राप्त करें ।

त्वमग्रे इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरूगायो नमस्यः ।

त्वं ब्रह्मा रयिविद्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ।। ( 2. 1. 3 )

हे ज्योति स्वरूप जिनेन्द्र ऋषभ आप सत्पुरुषों के बीच प्रणाम करने योग्य है । आप ही वेष्णु है और आप ही ब्रह्मा हैं तथा आप ही विभिन्न प्रकार की बुद्धियों से युक्त मेधावी हैं । जैस सप्त किरणों वाले वृषभ ने सात सिन्धुओं को बहाया और निर्मल आत्मा पर चढ़े हुए कर्ममल को नष्ट कर दिया । वे बज्रबाहु इन्द्र अर्थात् जिनेन्द्र आप ही हैं ।

उन्मा अनानुदो वृषभो दोधतो वधो गम्भीर ऋष्वो असमष्टकाव्यः ।

रघचोदः श्रुनथनो वीलितस्पृथुरिन्द्रः सुयज्ञः उषसः स्वर्जनत् ।। ( 2. 21. 4 )

दान देने में जिनके आगे कोई नहीं निकल सका ऐसे संसार को अर्थात् जन्म-मरण को क्षीण करने वाले कर्म शत्रुओं को मारने वाले असाधारण, कुशल, दृढ़ अगों वाले, उत्तम कर्म करने वाले ऋषभ ने सुयज्ञ रूपी अहिंसा धर्म का प्रकाशन किया ।

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रु पृतनासु सासहिः ।

असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उषस्य चिद्दमिता वीकुहर्षिणः ।। ( 2. 23. 11 )

हे ज्ञान के स्वामी वृषभ तुम्हारे जैसा दूसरा दाता नहीं है । तुम आत्म शत्रुओं को तपाने वाले, उनका पराभव करने वाले, कर्म रूपी ऋण को दूर करने वाले, उत्तम हर्ष देने वाले कठोर साधक व सत्य के प्रकाशक हो ।

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम् ।

धृणीव द्वायामरण अशीयाऽऽविवासेयं रुद्रस्य सुगन्म् ।। ( 2. 33. 6 )

मरुत्वान् अर्थात् मरुदेवी के पुत्र ऋषभ हम ( भिक्षुओं ) को तेजस्वी अन्न से तृप्त करे। जिस प्रकार धूप से पीड़ित व्यक्ति छाया का आश्रय लेता है उसी प्रकार मैं भी पाप रहित होकर कठोर साधक वृषभ के सुख को प्राप्त कर व उनकी सेवा करूँ अर्थात् निर्वाण लाभ प्राप्त करूँ।

**प्रदीधितिर्विश्रववारा जिगाति होतारमिलः प्रथमं यजध्यै।**

**अच्छा नमोभिर्वृषभं वन्दध्यै स देवान्यक्षदिषितो यजीयान् ॥ ( 3. 4. 3 )**

समग्र संसार के द्वारा वरेण्य तथा प्रकाश को करने वाली बुद्धि सबसे प्रथम पूजा करने के लिए ज्योति स्वरूप ऋषभ के पास जाती है। उस ऋषभ की वन्दना करने के लिए हम नमस्कार करते हुए उसके पास जायें। हमारे द्वारा प्रेरित होकर वह भी पूजनीय देवों की पूजा करें।

**अषालहो अग्ने वृषभो दिदीहि पुरो विश्रवाः सौभगा सजिगीवान्।**

**यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोजातविदो बृहतः सुप्रणीते ॥ ( 3. 15. 4 )**

हे अपराजित और तेजस्वी वृषभ आप सभी ऐश्वर्यशाली नगरों में धर्म युक्त कर्मों का प्रकाश कीजिए। हे सर्वज्ञ ! आप अहिंसा धर्म के उत्तम रीति से निर्णायक हुए, आप ही त्याग मार्ग के प्रथम नेता हैं। ( ज्ञातव्य है कि यहां यज्ञ शब्द को त्याग मार्ग के अर्थ में ग्रहीत किया गया है। )

**मरुत्वन्तं वृषभं वावुधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम्।**

**विश्वासाहमवसे नूतनायोयं सहोदामिह त्वं हुवेम् ॥ ( 3. 47. 5 )**

मरुत्वान् विकासमान अवर्णनीय दिव्य शासक सभी ( कर्म ) शत्रुओं को हराने वाले वीर ऋषभ को हम आत्म-रक्षण के लिए यहाँ आमंत्रित करते हैं।

**सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुभावदन्धसः सुतस्य।**

**साधोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सौम्यस्य ॥ ( 3. 48. 1 )**

उत्पन्न होते ही महाबलवान्, सुन्दर व तरुण उन वृषभ ने अन्नदान करने वालों का तत्काल रक्षण किया। हे जिनेन्द्र वृषभ ! समता रस के अन्दर मिलाये मिश्रण का आप सर्वप्रथम पान करें।

**पतिर्भव वृत्रहन्त्सूनूतानां गिरां विश्वायुर्वृषभो वयोधाः।**

**आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान्महीभिरुतिभिः सरण्यम् ॥ ( 3. 31. 18 )**

हे अज्ञान रूपी बादलों के विनाशक, सत्य और आनन्ददायक वाणियों के स्वामी पूर्ण आयु वाले ( विश्वायु ) महान वृषभ मित्रता के भाव से युक्त होकर तथा शिव मार्ग ( मोक्ष मार्ग ) का प्रतिपादन करने हेतु त्याग मार्ग की ओर जाते हुए हमारी ओर आईये।

**महौ उग्रो वावृधे वीर्याय समाचक्रे वृषभः काव्येन।**

**इन्द्रो भगो वाजदा अस्य गावः प्र जायन्ते दक्षिणा अस्यपूर्वीः ॥ ( 3. 36. 5 )**



वे महान ऐश्वर्यवान, कठोरतपस्वी भगवान वृषभ अपने पुरुषार्थ के लिए अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते हैं। उनकी प्रजा और दान पूर्वकाल से ही प्रसिद्ध है।

[ज्ञातव्य है कि ऋषभ प्रथम शासक थे और उन्होंने अपनी प्रजा को सम्यक् जीवन शैली सिखायी थी तथा दीक्षा के पूर्व विपुल दान दिया था। इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि उनकी प्रजा (गाव) एवं दान पूर्व से ही प्रसिद्ध है।]

**असूत पूर्वो वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वोः ।**

**दिवो नपाता विदथस्य धीमिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे ॥ ( 3.38.5 )**

उन श्रेष्ठ ऋषभदेव ने पूर्वो को उत्पन्न किया अथवा वे पूर्व ज्ञान से युक्त हुए। जिस प्रकार वर्षा करने वाला मेघ (वृषभ) पृथ्वी की प्यास बुझाता है उसी प्रकार वे पूर्वो के ज्ञान के द्वारा जनता की प्यास को बुझाते हैं। हे वृषभ ! आप राजा और क्षत्रिय हैं तथा आत्मा का पतन नहीं होने देते हैं।

**यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथ नि दधाति रेतः ।**

**स हि क्षपावान्त्स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ( 3.55.17 )**

जिस प्रकार वृषभ अन्य यूथों में जाकर डकारता है और अन्य यूथों में जाकर अपने वीर्य को स्थापित करता है। उसी प्रकार ऋषभदेव भी अन्य दार्शनिक समूह में जाकर अपनी वाणी का प्रकाश करते हैं और अपने सिद्धान्त का स्थापन करते हैं। वे ऋषभ कर्मों का क्षपण करने वाले अथवा संयमी अथवा जिनका प्रमाद नष्ट हो ऐसे अप्रमत्त भगवान, राजा, देवों और असुरों में महान हैं।

**वत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।**

**त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति बहो देवो मर्त्या आ विवेश ॥ ( 4.58.3 )**

वे ऋषभ देव अन्नत चतुष्टय रूपी चार श्रृंगों से तथा सम्यक ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूपी तीन पादों से युक्त हैं। ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग ऐसे दो सिरों, पाँच इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि ऐसे सात हाथों से युक्त हैं। वे तीन योगों से बद्ध होकर मृत्यों में निवास करते हैं। वे महादेव ऋषभ अपनी वाणी का प्रकाशन करते हैं।

## सन्दर्भ

1. जैन, डॉ. सागरमल, जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग, राजस्थान प्राकृत भारती, जयपुर 1982, पृ. भूमिका पृ. 6-10
2. निगंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा-पिण्डनिर्युक्ति 445, निर्युक्तिसंग्रह सं. विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर श्री. हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थ माला लाखाबाबल जामनगर
3. (अ) निगंथ धम्ममि इमा समाही, सूयगडो, जैन विश्वभारती लाईनू 2 16 142  
(ब) निगण्ठो नाटपुत्तो -- दीघनिकाय, महापरिनिव्वाण सुत्त-सुभधपरिव्वाजकवत्थुत्त 3 123 186  
(स) निगण्ठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति -- जैन शिलालेखसंग्रह भाग-2, लेख क्रमांक -1
4. इसिभासियाई सुत्ताई - प्राकृत भारती अकादमी जयपुर, 1988  
देखें-- भूमिका, सागरमल जैन, पृ. 19-20 [ सामान्यतया सम्पूर्ण भूमिका ही द्रष्टव्य है ]
5. ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद 10 185 14 में बार्हत शब्द तो मिलता है, किन्तु आर्हत शब्द नहीं मिलता है यद्यपि अर्हन एवं 'अर्हन्तो' शब्द मिलते हैं, किन्तु ब्राह्मणों, आरण्यकों आदिमें आर्हत और बार्हत दोनों शब्द मिलते हैं ।
6. देखें-- सुतं मेतं भन्ते-वज्जी यानि तानि वज्जीनं वज्जिचेतियानि अब्भन्तरानि चेव बाहिरानि तानि सक्कारोन्ति गरुं करोन्तिमानेन्ति पूजेन्ति ।  
.. वज्जीनं अरहन्तेसु धम्मिका रक्खाआवरणगुत्ति, सुसंविहिता किन्ति अनागता च अरहन्तो विजितं आगच्छेय्युं आगता च अरहन्तो विजिते फासु विहरेय्युं । -- दीघनिकाय महापरिनिव्वाणसुत्तं 3 11 14 ( नालन्दा देवनागरी पालि सिरीज )
7. देखें-- संस्कृत-हिन्दी कोश - बृहत् ( वि. ) स्त्री. ती, बृहती नपुं. 1 वेद 2 सामवेद का मंत्र, 3 ब्रह्म ( सं. वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास देहली-7 द्वि सं. 1984, पृ. 720 )
8. देखें-- देवो देयान् यजत्विग्नरर्हन ऋग्वेद 1 194 11, 2 13 11, 3, 2 133 110, 5 17 12, 5 152 15, 5 187 15, 7 118 122, 10 199 17,  
वैदिक पदानुक्रम-कोष, प्रथमखण्डः विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियार पुर, 1976, पृ. 518
9. जुद्धारिहं खलु दुल्लभं । -- आचारांग 1 11 15 13  
इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ - आचारांग 1 11 15 13
10. ( A ) Radha Krishnan-Indian philosophy ( 1st edition ) Vol.1, p. 287.

- ( B ) Indian Antiquary, Vol. IX, Page 163.
11. बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः नामैः प्रिय चिकीर्षया तदवरोधाय ने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितु कामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्दिनां शुक्लया तन्वावतार । --श्रीमद्भागवत 5 13 120
  12. देखें-- ( अ ) लिंगपुराण 48 119-23  
 ( ब ) शिवपुराण 52 185  
 ( स ) आग्नेयपुराण 10 111-12  
 ( द ) ब्रह्माण्डपुराण 14 153  
 ( इ ) विष्णुपुराण-द्वितीयांश अ. 1 126-27.  
 ( एफ ) कूर्मपुराण 41 137-38  
 ( जी ) वराहपुराण अ. 74  
 ( एच ) स्कन्धपुराण अध्याय 37  
 ( आई ) मार्कण्डेयपुराण अध्याय 50 139-41  
 देखें अहिंसावाणी - तीर्थकर म. ऋषभदेव विशेषांक वर्ष 7 अंक 1-2  
 मरुपुत्र ऋषभ - श्री राजाराम जैन, पृ. 87-92
  13. वृषभ यथा शृगे शिशानः दविध्वत् - वृषभ = बैल 8 160 113, 6 116 147, 7 119 11
  14. वृषभः इन्द्रः वज्रं युजं - वृषभ = बलवान 1 133 110  
 त्वं वृषभः पुष्टिर्धन - वृषभ = वलिष्ट 1 131 15
  15. देखें-- ऋषभ एवं वृषभ शब्द - संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1984, पृष्ठ 224 एवं 973
  16. वृषभः = वर्षा करने वाला 5 158 13  
 ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द ने इन्द्र के साथ प्रयुक्त वृषभ शब्द को इन्द्र का विशेषण मानकर उसका अर्थ वर्षा करने वाला किया है । देखें - 5 143 113, 5 158 16
  17. वृषभः बृहस्पति = कामनाओं के वर्षक बृहस्पति - 10 192 190  
 वृषभः प्रजां वर्षतीति वाति बृहतिरेत इति वा तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः ।  
 - निरुक्तम् ( यास्कमहर्षि प्रकाशितं ) 9 122 11
  18. अनर्थका हि मन्त्राः - निरुक्त, अध्याय 1 खण्ड 15 पाद 5 सूत्र 2  
 - खेमराज श्रीकृष्णदास मुम्बय्यां संवत् 1982
  19. ऋग्वेद भाषाभाष्य - दयानन्द सरस्वती - दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-5  
 देखें - ऋग्वेद 10 1111 12 का भाष्य ।
  20. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य पद्मभूषण डॉ. श्री पाद दामोदर सतवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारडी - जिला बलसाद, 1985  
 देखें ऋग्वेद 10 1111 12 का भाष्य ।
  21. वही, देखें ऋग्वेद 4 158 13

22. ऋग्वेद भाषा भाष्य, दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-5  
देखें - ऋग्वेद 4।58।3
23. भक्तामरस्तोत्र ( मानतुंग ), 23, 24, 25  
त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस --  
मादित्यवर्णमिमलं तमसः परस्तात् ।  
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं  
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ।।23।।
- त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं  
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।  
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं  
ज्ञानरत्नरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ।।24।।
- बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्  
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।  
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्  
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ।।25।।

- डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5.

# निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन

- प्रो. सागरमल जैन

जिस प्रकार वेदों के शब्दों की व्याख्या के रूप में सर्वप्रथम निरुक्त लिखे गये, सम्भवतः उसी प्रकार जैन परम्परा में आगमों की व्याख्या के लिए सर्वप्रथम निर्युक्तियाँ लिखने का कार्य हुआ। जैन आगमों की व्याख्या के रूप में लिखे गये ग्रन्थों में निर्युक्तियाँ प्राचीनतम हैं। आगमिक व्याख्या साहित्य मुख्य रूप से निम्न पाँच रूप में विभक्त किया जा सकता है -- 1. निर्युक्ति 2. भाष्य 3. चूर्णि 4. संस्कृत वृत्तियाँ एवं टीकाएँ और 5. टब्बा अर्थात् आगमिक शब्दों को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन मरु-गुर्जर में लिखा गया आगमों का शब्दार्थ। इनके अतिरिक्त सम्प्रति आधुनिक भाषाओं यथा हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजी में भी आगमों पर व्याख्याएँ लिखी जा रही हैं।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान शारपेन्टियर उत्तराध्ययनसूत्र की भूमिका में निर्युक्ति की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'निर्युक्तियाँ मुख्य रूप से केवल विषयसूची का काम करती हैं। वे सभी विस्तारयुक्त घटनाओं को संक्षेप में उल्लिखित करती हैं।'

अनुयोगद्वारसूत्र में निर्युक्तियों के तीन विभाग किये गये हैं --

1. निक्षेप-निर्युक्ति -- इसमें निक्षेपों के आधार पर पारिभाषक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया जाता है।
2. उपोद्घात-निर्युक्ति -- इसमें आगम में वर्णित विषय का पूर्वभूमिका के रूप में स्पष्टीकरण किया जाता है।
3. सूत्रस्पर्शक-निर्युक्ति -- इसमें आगम की विषय-वस्तु का उल्लेख किया जाता है।

प्रो. घाटके इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टरली खण्ड १२, १९७० में निर्युक्तियों को निम्न तीन विभागों में विभक्त किया है --

1. शुद्ध-निर्युक्तियाँ -- जिनमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियाँ।
2. मिश्रित किन्तु व्यवच्छेद्य-निर्युक्तियाँ -- जिनमें मूलभाष्यों का समिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र की निर्युक्तियाँ।
3. भाष्य मिश्रित-निर्युक्तियाँ -- वे निर्युक्तियाँ जो आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य में ही समाहित हो गयी हैं और उन दोनों को पृथक्-पृथक् करना कठिन है। जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

निर्युक्तियाँ वस्तुतः आगमिक परिभाषिक शब्दों एवं आगमिक विषयों के अर्थ को सुनिश्चित करने की एक प्रयत्न हैं। फिर भी निर्युक्तियाँ अति संक्षिप्त हैं, इनमें मात्र आगमिक शब्दों एवं विषयों के अर्थ-संकेत ही हैं, जिन्हें भाष्य और टीकाओं के माध्यम से ही सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। जैन आगमों की व्याख्या के रूप में जिन निर्युक्तियों का प्रणयन हुआ, वे मुख्यतः प्राकृत गाथाओं में हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्ति शब्द का अर्थ और निर्युक्तियों के लिखने का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है -- "एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, अतः कौन सा अर्थ किस प्रसंग में उपयुक्त है, यह निर्णय करना आवश्यक होता है। भगवान् महावीर के उपदेश के आधार पर लिखित आगमिक ग्रन्थों में कौन से शब्द का क्या अर्थ है, इसे स्पष्ट करना ही निर्युक्ति का प्रयोजन है।" दूसरे शब्दों में निर्युक्ति जैन परम्परा के पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण है; यहाँ हमें स्मरण रहे कि जैन परम्परा में अनेक शब्द अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ में ग्रहीत न होकर अपने पारिभाषिक अर्थ में ग्रहीत हैं, जैसे -- अस्तिकायों के प्रसंग में धर्म एवं अधर्म शब्द, कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में प्रयुक्त कर्म शब्द अथवा स्याद्वाद में प्रयुक्त स्यात् शब्द। आचारांग में 'दंसण' (दर्शन) शब्द का जो अर्थ है, उत्तराध्ययन में उसका वही अर्थ नहीं है। दर्शनावरण में दर्शन शब्द का जो अर्थ होता है वही अर्थ दर्शन मोह के सन्दर्भ में नहीं होता है। अतः आगम ग्रन्थों में शब्द के प्रसंगानुसार अर्थ का निर्धारण करने में निर्युक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

निर्युक्तियों की व्याख्या-शैली का आधार मुख्य रूप से जैन परम्परा में प्रचलित निक्षेप-पद्धति रही है। जैन परम्परा में वाक्य के अर्थ का निश्चय नयों के आधार पर एवं शब्द के अर्थ का निश्चय निक्षेपों के आधार पर होता है। निक्षेप चार हैं -- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इन चार निक्षेपों के आधार पर एक ही शब्द के चार भिन्न अर्थ हो सकते हैं। निक्षेप-पद्धति में शब्द के सम्भावित विविध अर्थों का उल्लेख कर उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। उदाहरण के रूप में आवश्यक-निर्युक्ति के प्रारम्भ में अभिनिबोध ज्ञान के चार भेदों के उल्लेख के पश्चात् उनके अर्थों को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि अर्थों (पदार्थों) का ग्रहण अवग्रह है एवं उनके सम्बन्ध में चिन्तन ईहा है।<sup>2</sup> इसी प्रकार निर्युक्तियों में किसी एक शब्द के पर्यायवाची अन्य शब्दों का भी संकलन किया गया है, जैसे -- अभिनिबोधिक शब्द के पर्याय हैं -- ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति एवं प्रज्ञा।<sup>3</sup> निर्युक्तियों की विशेषता यह है कि जहाँ एक ओर वे आगमों के महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करती हैं, वहीं आगमों के विभिन्न अध्ययनों और उद्देशकों का संक्षिप्त विवरण भी देती हैं। यद्यपि इस प्रकार की प्रवृत्ति सभी निर्युक्तियों में नहीं है, फिर भी उनमें आगमों के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ का तथा उनकी विषय-वस्तु का अति संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है।

## प्रमुखनिर्युक्तियाँ

आवश्यकनिर्युक्ति में लेखक ने जिन दस निर्युक्तियों के लिखने की प्रतिज्ञा की थी, वे निम्न हैं<sup>4</sup> --

1. आवश्यक-निर्युक्ति
2. दशवैकालिक-निर्युक्ति
3. उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
4. आचारांग-निर्युक्ति
5. सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
6. दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति
7. बृहत्कल्प-निर्युक्ति
8. व्यवहार-निर्युक्ति
9. सूर्य-प्रज्ञप्ति-निर्युक्ति
10. ऋषिभाषित-निर्युक्ति

वर्तमान में उपर्युक्त दस में से आठ ही निर्युक्तियाँ उपलब्ध हैं, अन्तिम दो अनुपलब्ध हैं। आज यह निश्चय कर पाना अति कठिन है कि ये अन्तिम दो निर्युक्तियाँ लिखी भी गयी या नहीं ? क्योंकि हमें कहीं भी ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि किसी काल में ये निर्युक्तियाँ रहीं और बाद में विलुप्त हो गयीं। यद्यपि मैंने अपनी ऋषिभाषित की भूमिका<sup>5</sup> में यह सम्भावना व्यक्त की है कि वर्तमान 'इसीमण्डलत्यू' सम्भवतः ऋषिभाषित निर्युक्ति का परवर्तित रूप हो, किन्तु इस सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है। इन दोनों निर्युक्तियों के सन्दर्भ में हमारे सामने तीन विकल्प हो सकते हैं--

1. सर्वप्रथम यदि हम यह मानें कि इन दसों निर्युक्तियों के लेखक एक ही व्यक्ति हैं और उन्होंने इन निर्युक्तियों की रचना उसी क्रम में की है, जिस क्रम से इनका उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में हैं, तो ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि वे अपने जीवन-काल में आठ निर्युक्तियों की ही रचना कर पायें हों तथा अन्तिम दो की रचना नहीं कर पायें हों।

2. दूसरे यह भी सम्भव है कि ग्रन्थों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए प्रथम तो लेखक ने यह प्रतिज्ञा कर ली हो कि वह इन दसों आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखेगा, किन्तु जब उसने इन दोनों आगम ग्रन्थों का अध्ययन कर यह देखा कि सूर्य-प्रज्ञप्ति में जैन-आचार मर्यादाओं के प्रतिकूल कुछ उल्लेख हैं और ऋषिभाषित में नारद, मंखलिगोशाल आदि उन व्यक्तियों के उपदेश संकलित हैं जो जैन परम्परा के लिए विवादास्पद हैं, तो उसने इन पर निर्युक्ति लिखने का विचार स्थगित कर दिया हो।

3. तीसरी सम्भावना यह भी है कि उन्होंने इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी हो किन्तु इनमें भी विवादित विषयों का उल्लेख होने से इन निर्युक्तियों को पठन-पाठन से बाहर रखा गया हो और फलतः अपनी उपेक्षा के कारण कालक्रम में वे विलुप्त हो गयीं हों। यद्यपि यहाँ एक शंका हो सकती है कि, यदि जैन आचार्यों ने विवादित होते हुए भी इन दोनों ग्रन्थों को संरक्षित करके रखा तो उन्होंने इनकी निर्युक्तियों को संरक्षित करके क्यों नहीं रखा ?

4. एक अन्य विकल्प यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार दर्शनप्रभावक ग्रन्थ के रूप

में मान्य गोविन्दनिर्युक्ति विलुप्त हो गई है, उसी प्रकार ये निर्युक्तियाँ भी विलुप्त हो गई हों।

निर्युक्ति साहित्य में उपरोक्त दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति एवं आराधनानिर्युक्ति को भी समाविष्ट किया जाता है, किन्तु इनमें से पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का एक भाग है और ओघनिर्युक्ति भी आवश्यक निर्युक्ति का एक अंश है। अतः इन दोनों को स्वतन्त्र निर्युक्ति ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि वर्तमान में ये दोनों निर्युक्तियाँ अपने मूल ग्रन्थ से अलग होकर स्वतन्त्र रूप में ही उपलब्ध होती हैं। आचार्य मलयगिरि ने पिण्डनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक विभाग माना है, उनके अनुसार दशवैकालिक के पिण्डेषणा नामक पाँचवें अध्ययन पर विशद निर्युक्ति होने से उसको वहाँ से पृथक् करके पिण्डनिर्युक्ति के नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बना दिया गया। मलयगिरि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जहाँ दशवैकालिक निर्युक्ति में लेखक ने नमस्कारपूर्वक प्रारम्भ किया, वही पिण्डनिर्युक्ति में ऐसा नहीं है, अतः पिण्डनिर्युक्ति स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। दशवैकालिकनिर्युक्ति तथा आवश्यकनिर्युक्ति से इन्हें बहुत पहले ही अलग कर दिया गया था। जहाँ तक आराधनानिर्युक्ति का प्रश्न है, श्वेताम्बर साहित्य में तो कहीं भी इसका उल्लेख नहीं है। प्रो. ए. एन. उपाध्ये ने बृहत्कथाकोश की अपनी प्रस्तावना<sup>6</sup> (पृ. 31) में मूलाचार की एक गाथा की वसुनन्दी की टीका के आधार पर इस निर्युक्ति का उल्लेख किया है, किन्तु आराधनानिर्युक्ति की उनकी यह कल्पना यथार्थ नहीं है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी स्वयं एवं प्रो. ए. एन. उपाध्ये जी मूलाचार की उस गाथा के अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझ नहीं पाये हैं।<sup>7</sup>

वह गाथा निम्नानुसार है --

"आराहण णिज्जुति मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ ।

पच्चक्खाणावसय धम्मकहाओ य एरिसओ ।"

[ मूलाचार, पंचचारधिकार, 279 ]

अर्थात् आराधना, निर्युक्ति, मरणविभक्ति, संग्रहणीसूत्र, स्तुति (वीरस्तुति), प्रत्याख्यान (महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान), आवश्यकसूत्र, धर्मकथा तथा ऐसे अन्य ग्रन्थों का अध्ययन अस्वाध्याय काल में किया जा सकता है। वस्तुतः मूलाचार की इस गाथा के अनुसार आराधना एवं निर्युक्ति ये अलग-अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इसमें आराधना से तात्पर्य आराधना नामक प्रकीर्णक अथवा भगवती-आराधना से तथा निर्युक्ति से तात्पर्य आवश्यक आदि सभी निर्युक्तियों से है।

अतः आराधनानिर्युक्ति नामक निर्युक्ति की कल्पना अयथार्थ है। इस निर्युक्ति के अस्तित्व की कोई सूचना अन्यत्र भी नहीं मिलती है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। इन दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त आर्य गोविन्द की गोविन्दनिर्युक्ति का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु यह भी निर्युक्ति वर्तमान में अनुपलब्ध है। इनका उल्लेख नन्दीसूत्र<sup>8</sup>, व्यवहार-भाष्य<sup>9</sup>, आवश्यकचूर्णि<sup>10</sup> एवं निशीथचूर्णि<sup>11</sup> में मिलता है। इस निर्युक्ति की विषय वस्तु मुख्य रूप से



एकेन्द्रिय अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि में जीवन की सिद्धि करना था। इसे गोविन्द नामक आचार्य ने बनाया था और उनके नाम के आधार पर ही इसका नामकरण हुआ है। कथानकों के अनुसार ये बौद्ध परम्परा से आकर जैन परम्परा में दीक्षित हुए थे। मेरी दृष्टि में यह निर्युक्ति आचारांग के प्रथम अध्ययन और दशवैकालिक के चतुर्थ षट्-जीव निकाय नामक अध्ययन से सम्बन्धित रही होगी और इसका उद्देश्य बौद्धों के विरुद्ध पृथ्वी, पानी आदि में जीवन की सिद्धि करना रहा होगा। यही कारण है इसकी गणना दर्शन प्रभावक ग्रन्थ में की गयी है। संज्ञी-श्रुत के सन्दर्भ में इसका उल्लेख भी यही बताता है।<sup>12</sup>

इसी प्रकार संसक्त निर्युक्ति<sup>13</sup> नामक एक और निर्युक्ति का उल्लेख मिलता है। इसमें 84 आगमों के सम्बन्ध में उल्लेख है। इसमें मात्र 94 गाथाएं हैं। 84 आगमों का उल्लेख होने से विद्वानों ने इसे पर्याप्त परवर्ती एवं विसंगत रचना माना है। अतः इसे प्राचीन निर्युक्ति साहित्य में परिगणित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान निर्युक्तियाँ दस निर्युक्तियों में समाहित हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य किसी निर्युक्ति नामक ग्रन्थ की जानकारी हमें नहीं है।

### दस निर्युक्तियों का रचना क्रम :

यद्यपि दसों निर्युक्तियाँ एक ही व्यक्ति की रचनायें हैं। फिर भी इनकी रचना एक क्रम में हुई होगी। आवश्यकनिर्युक्ति में जिस क्रम से इन दस निर्युक्तियों का नामोल्लेख है<sup>14</sup> उसी क्रम से उनकी रचना हुई होगी, विद्वानों के इस कथन की पुष्टि निम्न प्रमाणों से होती है --

1. आवश्यकनिर्युक्ति की रचना सर्वप्रथम हुई है, यह तथ्य स्वतः सिद्ध है, क्योंकि इसी निर्युक्ति में सर्वप्रथम दस निर्युक्तियों की रचना करने की प्रतिज्ञा की गयी है और उसमें भी आवश्यक का नामोल्लेख सर्वप्रथम हुआ है।<sup>15</sup> पुनः आवश्यकनिर्युक्ति से निह्नववाद से सम्बन्धित सभी गाथाएं (गाथा 778 से 784 तक)<sup>16</sup> उत्तराध्ययननिर्युक्ति में (गाथा 164 से 178 तक)<sup>17</sup> में ली गयी है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आवश्यकनिर्युक्ति के बाद ही उत्तराध्ययननिर्युक्ति आदि अन्य निर्युक्तियों की रचना हुई है। आवश्यकनिर्युक्ति के बाद सबसे पहले दशवैकालिकनिर्युक्ति की रचना हुई है और उसके बाद प्रतिज्ञागाथा के क्रमानुसार अन्य निर्युक्तियों की रचना की गई। इस कथन की पुष्टि आगे दिये गये उत्तराध्ययननिर्युक्ति के सन्दर्भों से होती है।

2. उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा 29 में 'विनय' की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है-- 'विणओ पुव्वुदिदट्ठा' अर्थात् विनय के सम्बन्ध में हम पहले कह चुके हैं।<sup>18</sup> इसका तात्पर्य यह है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना से पूर्व किसी ऐसी निर्युक्ति की रचना हो चुकी थी, जिसमें विनय सम्बन्धी विवेचन था। यह बात दशवैकालिक निर्युक्ति को देखने से स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि दशवैकालिकनिर्युक्ति में विनय समाधि नामक नवें अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा 309 से 326 तक) में 'विनय' शब्द की व्याख्या है।<sup>19</sup> इसी प्रकार उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा, 207) में 'कामापुव्वुदिदट्ठा' कहकर यह सूचित किया गया है कि

काम के विषय में पहले विवेचन किया जा चुका है।<sup>20</sup> यह विवेचन भी हमें दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथा 161 से 163 तक में मिल जाता है।<sup>21</sup> उपरोक्त दोनों सूचनाओं के आधार पर बात सिद्ध होती है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद ही लिखी गयी।

3. आवश्यकनिर्युक्ति के बाद दशवैकालिकनिर्युक्ति और फिर उत्तराध्ययननिर्युक्ति रचना हुई, यह तो पूर्व चर्चा से सिद्ध हो चुका है। इन तीनों निर्युक्तियों की रचना के पश्चात् आचारांगनिर्युक्ति की रचना हुई है, क्योंकि आचारांग निर्युक्ति की गाथा 5 में कहा गया है -- 'आयारे अंगमि य पुव्वुदिदट्ठा चउक्कयं निक्खेयो' -- आचार और अंग के निक्षेपों का विवेचन पहले हो चुका है।<sup>22</sup> दशवैकालिकनिर्युक्ति में दशवैकालिकसूत्र के क्षुल्लकाचार अध्ययन निर्युक्ति (गाथा 79-88) में 'आचार' शब्द के अर्थ का विवेचन<sup>22</sup> तथा उत्तराध्ययननिर्युक्ति उत्तराध्ययनसूत्र के तृतीय 'चतुरांग' अध्ययन की निर्युक्ति करते हुए गाथा 143-144 में 'अंग' शब्द का विवेचन किया है।<sup>23</sup> अतः यह सिद्ध होता है कि आवश्यक, दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन के पश्चात् ही आचारांगनिर्युक्ति का क्रम है।

इसी प्रकार आचारांग की चतुर्थ विमुक्तिचूलिका की निर्युक्ति में 'विमुक्ति' शब्द की निर्युक्ति करते हुए गाथा 331 में लिखा है कि 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति के अनुसार ही 'विमुक्ति' शब्द की निर्युक्ति भी समझना चाहिए।<sup>24</sup> चूंकि उत्तराध्ययन के अट्ठावीसवें अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा 497-98) में मोक्ष शब्द की निर्युक्ति की जा चुकी थी।<sup>25</sup> अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि आचारांगनिर्युक्ति का क्रम उत्तराध्ययन के पश्चात् है। आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, उत्तराध्ययननिर्युक्ति एवं आचारांगनिर्युक्ति के पश्चात् सूत्रकृतांगनिर्युक्ति का क्रम आता है। इस तथ्य की पुष्टि इस आधार पर भी होती है कि सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा 99 में यह उल्लिखित है कि 'धर्म' शब्द के निक्षेपों का विवेचन पूर्व में हो चुका है (धम्मोपुव्वुदिदट्ठो)।<sup>26</sup> दशवैकालिकनिर्युक्ति में दशवैकालिकसूत्र की प्रथम गाथा का विवेचन करते समय धर्म शब्द के निक्षेपों का विवेचन हुआ है।<sup>27</sup> इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद निर्मित हुई है। इसी प्रकार सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा 127 में कहा है 'गंधोपुव्वुदिदट्ठो'।<sup>28</sup> हम देखते हैं कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा 267-268 में ग्रन्थ शब्द के निक्षेपों का भी कथन हुआ है।<sup>29</sup> इससे सूत्रकृतांगनिर्युक्ति भी दशवैकालिकनिर्युक्ति एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति से परवर्ती ही सिद्ध होती है।

4. उपर्युक्त पाँच निर्युक्तियों के यथाक्रम से निर्मित होने के पश्चात् ही तीन छेद सूत्रों यथा -- दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार पर निर्युक्तियाँ भी उनके उल्लेख क्रम से ही लिखीं गयीं हैं, क्योंकि दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति के प्रारम्भ में ही प्राचीनगोत्रीय सकल श्रुत के ज्ञाता और दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार के रचयिता भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है। इसमें भी इन तीनों ग्रन्थों का उल्लेख उसी क्रम से है जिस क्रम से निर्युक्ति-लेखन की प्रतीक्षा में है।<sup>30</sup> अतः यह कहा जा सकता है कि इन तीनों ग्रन्थों की निर्युक्तियाँ इसी क्रम में लिखी गयीं होंगी। उपर्युक्त आठ निर्युक्तियों की रचना के पश्चात् ही सूर्यप्रज्ञप्ति एवं इसिभासियाइ की निर्युक्ति की रचना होनी थी। इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी भी गयीं या नहीं, आज यह

निर्णय करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रतिज्ञा गाथा के अतिरिक्त हमें इन निर्युक्तियों के सन्दर्भ में कहीं भी कोई भी सूचना नहीं मिलती है। अतः इन निर्युक्तियों की रचना होना संदिग्ध ही है। या तो इन निर्युक्तियों के लेखन का क्रम आने से पूर्व ही निर्युक्तिकार का स्वर्गवास हो चुका होगा या फिर इन दोनों ग्रन्थों में कुछ विवादित प्रसंगों का उल्लेख होने से निर्युक्तिकार ने इनकी रचना करने का निर्णय ही स्थगित कर दिया होगा।

अतः सम्भावना यही है कि ये दोनों निर्युक्तियाँ लिखी ही नहीं गईं, चाहे इनके नहीं लिखे जाने के कारण कुछ भी रहे हों। प्रतिज्ञागाथा के अतिरिक्त सूत्रकृतागनिर्युक्ति गाथा 189 में ऋषिभाषित का नाम अवश्य आया है।<sup>31</sup> वहाँ यह कहा गया है कि जिस-जिस सिद्धान्त या मत में जिस किसी अर्थ का निश्चय करना होता है उसमें पूर्व कहा गया अर्थ ही मान्य होता है, जैसे कि-- ऋषिभाषित में। किन्तु यह उल्लेख ऋषिभाषित मूल ग्रन्थ के सम्बन्ध में ही सूचना देता है न कि उसकी निर्युक्ति के सम्बन्ध में।

### निर्युक्ति के लेखक और रचना-काल :

निर्युक्तियों के लेखक कौन हैं और उनका रचना काल क्या है ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अतः हम उन पर अलग-अलग विचार न करके एक साथ ही विचार करेंगे।

परम्परागत रूप से अन्तिम श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वधर तथा छेदसूत्रों के रचयिता आर्य भद्रबाहु प्रथम को ही निर्युक्तियों का कर्त्ता माना जाता है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा श्रुत-केवली भद्रबाहु को निर्युक्तियों के कर्त्ता के रूप में स्वीकार करने वाले निम्न साक्ष्यों को संकलित करके प्रस्तुत किया है। जिन्हें हम यहाँ अविकल रूप से दे रहे हैं<sup>32</sup> --

1. "अनुयोगदायिनः -- सुधर्मस्वामिप्रभृतयः यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान् सर्वानिति ।।"  
- आचारांगसूत्र, शीलाङ्काचार्य कृत टीका-पत्र 4.
2. "न च केषांचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वाक्कालाभाविता इत्यन्योक्तत्वमाशङ्कनीयम्, स हि भगवाँश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशङ्का ? इति।" उत्तराध्ययनसूत्र शान्तिसुरिकृता पाइयटीका-पत्र 139.
3. "गुणाधिकस्य वन्दनं कर्त्तव्यम् न त्वधमस्य, यत उक्तम् --" गुणाहिए वंदणयं"। भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वाद् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात् किं तेषां नमस्कारमसौ करोति ? इति। अत्रोच्यते -- गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्तिगुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति।" ओघनिर्युक्ति द्रोणाचार्यकृतशटीका-पत्र 3.
4. "इह चरणकरणक्रियाकलापतरुमूलकल्पं सामायिकादिषडध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धरूपमावश्यकं तावदर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतस्तु गणधरैर्विरचितम्। अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधु -- श्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुनैतद्व्याख्यानरूपा" आभिणिबोहियनाणं" इत्यादिप्रसिद्धग्रन्थरूपा निर्युक्तिः कृता।" विशेषावश्यक मलधारिहेमचन्द्रसुरिकृत-टीका-पत्र 1.

5. "साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तिः ।" बृहत्कल्पपीठिका मलयगिरिकृत टीका-पत्र 2.
6. "इह श्रीमदावश्यकदिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्रसंसूत्रणसूत्रधारः... श्रीभद्रबाहुस्वामी... कल्पनामधेयमध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्यूढवान् ।" बृहत्कल्पपीठिका श्रीक्षेमकीर्तिसूरिअनुसन्धिता टीका-पत्र 177 ।

इन समस्त सन्दर्भों को देखने से स्पष्ट होता है कि श्रुत-केवली चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु प्रथम को निर्युक्तियों के कर्त्ता के रूप में मान्य करने वाला प्राचीनतम सन्दर्भ आर्यशीलांक का है । आर्यशीलांक का समय लगभग विक्रम संवत् की 9वीं-10वीं सदी माना जाता है । जिन अन्य आचार्यों ने निर्युक्तिकार के रूप में भद्रबाहु प्रथम को माना है, उनमें आर्यद्रोण, मलधारी हेमचन्द्र, मलयगिरि, शान्तिसूरि तथा क्षेमकीर्ति सूरि के नाम प्रमुख हैं, किन्तु ये सभी आचार्य विक्रम की दसवीं सदी के पश्चात् हुए हैं । अतः इनका कथन बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है । उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह मात्र अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा है । दुर्भाग्य से 8-9वीं सदी के पश्चात् चतुर्दश पूर्वधर श्रुत-केवली भद्रबाहु और वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु के कथानक, नामसाम्य के कारण एक-दूसरे में घुल-मिल गये और दूसरे भद्रबाहु की रचनायें भी प्रथम के नाम चढ़ा दी गईं । यही कारण रहा कि नैमित्तिक भद्रबाहु को भी प्राचीनगोत्रीय श्रुत-केवली चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है और दोनों के जीवन की घटनाओं के इस घाल-मेल से अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गईं । इन्हीं अनुश्रुतियों के परिणामस्वरूप निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की अनुश्रुति प्रचलित हो गयी । यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी ने बृहत्कल्प-सूत्र (निर्युक्ति, लघु भाष्य वृत्यूपेतम्) के षष्ठ विभाग के आमुख में यह लिखा है कि निर्युक्तिकार स्थविर आर्य भद्रबाहु है, इस मान्यता को पुष्ट करने वाला एक प्रमाण जिनभद्र गणिकामाश्रमण के विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ टीका में भी मिलता है।<sup>33</sup> यद्यपि उन्होंने वहाँ उस प्रमाण का सन्दर्भ सहित उल्लेख नहीं किया है । मैं इस सन्दर्भ को खोजने का प्रयत्न कर रहा हूँ, किन्तु उसके मिल जाने पर भी हम केवल इतना ही कह सकेंगे कि विक्रम की लगभग सातवीं शती से निर्युक्तिकार प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु हैं, ऐसी अनुश्रुति प्रचलित हो गयी थी ।

निर्युक्तिकार प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु है अथवा नैमित्तिक (वाराहमिहिर के भाई) भद्रबाहु है, यह दोनों ही प्रश्न विवादास्पद है । जैसा कि हमने संकेत किया है निर्युक्तियों को प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु की मानने की परम्परा आर्यशीलांक से या उसके पूर्व जिनभद्रगणिकामाश्रमण से प्रारम्भ हुई है । किन्तु उनके इन उल्लेखों में कितनी प्रामाणिकता है यह विचारणीय है, क्योंकि निर्युक्तियों में ही ऐसे अनेक प्रमाण उपस्थित हैं, जिनसे निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता में बाधा उत्पन्न होती है । इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजयजी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा वे सब सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, जो निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता के विरोध में जाते हैं । हम उनकी स्थापनाओं के हार्द को ही हिन्दी भाषा में रूपान्तरित कर निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत कर रहे हैं --

1. आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 764 से 776 तक में वज्रस्वामी के विद्यागुरु आर्यसिंहगिरि, आर्यवज्रस्वामी, तोषलिपुत्र, आर्यरक्षित, आर्य फल्गुमित्र, स्थविर भद्रगुप्त जैसे आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख है<sup>34</sup>। ये सभी आचार्य चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु से परवर्ती हैं और तोषलिपुत्र को छोड़कर शेष सभी का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में है। यदि निर्युक्तियों चतुर्दश पूर्वधर आर्यभद्रबाहु की कृति होती तो उनमें इन नामों के उल्लेख सम्भव नहीं थे।

2. इसीप्रकार पिण्डनिर्युक्ति की गाथा 498 में पादलिप्ताचार्य<sup>35</sup> का एवं गाथा 503 से 505 में वज्रस्वामी के मामा समितसूरि<sup>36</sup> का उल्लेख है साथ ही ब्रह्मदीपकशाखा<sup>37</sup> का उल्लेख भी है -- ये तथ्य यही सिद्ध करते हैं कि पिण्डनिर्युक्ति भी चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु की कृति नहीं है, क्योंकि पादलिप्तसूरि, समितसूरि तथा ब्रह्मदीपकशाखा की उत्पत्ति ये सभी प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु से परवर्ती हैं।

3. उत्तराध्ययननिर्युक्ति की गाथा 120 में कालकाचार्य<sup>38</sup> की कथा का संकेत है। कालकाचार्य भी प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु से लगभग तीनसौ वर्ष पश्चात् हुए हैं।

4. ओघनिर्युक्ति की प्रथम गाथा में चतुर्दश पूर्वधर, दश पूर्वधर एवं एकादश-अंगों के ज्ञाताओं को सामान्य रूप से नमस्कार किया गया है<sup>39</sup>, ऐसा द्रोणाचार्य ने अपनी टीका में सूचित किया है।<sup>40</sup> यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी सामान्य कथन की दृष्टि से इसे असंभावित नहीं मानते हैं, क्योंकि आज भी आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि नमस्कारमंत्र में अपने से छोटे पद और व्यक्तियों को नमस्कार करते हैं। किन्तु मेरी दृष्टि में कोई भी चतुर्दश पूर्वधर दसपूर्वधर को नमस्कार करे, यह उचित नहीं लगता। पुनः आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 769 में दस पूर्वधर वज्रस्वामी को नाम लेकर जो वंदन किया गया है<sup>41</sup>, वह तो किसी भी स्थिति में उचित नहीं माना जा सकता है।

5. पुनः आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 763 से 774 में यह कहा गया है कि शिष्यों की स्मरण शक्ति के हास को देखकर आर्य रक्षित ने, वज्रस्वामी के काल तक जो आगम अनुयोगों में विभाजित नहीं थे, उन्हें अनुयोगों में विभाजित किया।<sup>42</sup> यह कथन भी एक परवर्ती घटना को सूचित करता है। इससे भी यही फलित होता है कि निर्युक्तियों के कर्त्ता चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हैं, अपितु आर्यरक्षित के पश्चात् होने वाले कोई भद्रबाहु है।

6. दशवैकालिकनिर्युक्ति<sup>43</sup> की गाथा 4 एवं ओघनिर्युक्ति<sup>44</sup> की गाथा 2 में चरणकरणानुयोग की निर्युक्ति कहूंगा ऐसा उल्लेख है। यह भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि निर्युक्ति की रचना अनुयोगों के विभाजन के बाद अर्थात् आर्यरक्षित के पश्चात् हुई है।

7. आवश्यकनिर्युक्ति<sup>45</sup> की गाथा 778-783 में तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति 46 की गाथा 164 से 178 तक में 7 निह्नवों और आठवें बोटिक मत की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है। अन्तिम सातवाँ निह्नव वीरनिर्वाण संवत् 584 में तथा बोटिक मत की उत्पत्ति वीरनिर्वाण संवत् 609 में हुई। ये घटनाएं चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु के लगभग चार सौ वर्ष

पश्चात् हुई हैं। अतः उनके द्वारा रचितनिर्युक्ति में इनका उल्लेख होना सम्भव नहीं लगता है। कैसे मेरी दृष्टि में बोटिक मत की उत्पत्ति का कथन निर्युक्तिकार का नहीं है -- निर्युक्ति में सात निहन्वों का ही उल्लेख है। निहन्वों के काल एवं स्थान सम्बन्धी गाथाएँ भाष्य गाथाएं हैं-- जो बाद में निर्युक्ति में मिल गई हैं। किन्तु निर्युक्तियों में सात निहन्वों का उल्लेख होना भी इस बात का प्रमाण है कि निर्युक्तियाँ प्राचीनगोत्रीयपूर्वधर भद्रबाहु की कृतियाँ नहीं हैं।

8. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा 146 में द्रव्य-निक्षेप के सम्बन्ध में एकभक्ति, बद्धायुष्य और अभिमुखित नाम-गोत्र ऐसे तीन आदेशों का उल्लेख हुआ है।<sup>47</sup> ये विभिन्न मान्यताएं भद्रबाहु के काफी पश्चात् आर्य सुहस्ति, आर्य मंक्षु आदि परवर्ती आचार्यों के काल में निर्मित हुई हैं। अतः इन मान्यताओं के उल्लेख से भी निर्युक्तियों के कर्त्ता चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु हैं, यह मानने में बाधा आती है।

मुनिजी पुण्यविजयजी ने उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्त्याचार्य, जो निर्युक्तिकार के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु को मानते हैं, की इस मान्यता का भी उल्लेख किया है कि निर्युक्तिकार त्रिकालज्ञानी है। अतः उनके द्वारा परवर्ती घटनाओं का उल्लेख होना असम्भव नहीं है।<sup>48</sup> यहाँ मुनि पुण्यविजयजी कहते हैं कि हम शान्त्याचार्य की इस बात स्वीकार कर भी लें, तो भी निर्युक्तियों में नामपूर्वक वज्रस्वामी को नमस्कार आदि किसी भी दृष्टि से युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता। वे लिखते हैं यदि उपर्युक्त घटनाएँ घटित होने के पूर्व ही निर्युक्तियों में उल्लिखित कर दी गयीं हों तो भी अमुक मान्यता अमुक पुरुष द्वारा स्थापित हुई यह कैसे कहा जा सकता है।<sup>49</sup>

पुनः जिन दस आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखने का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में है, उससे यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु के समय आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अतिविस्तृत एवं परिपूर्ण थे। ऐसी स्थिति में उन आगमों पर लिखी गयी निर्युक्ति भी अतिविशाल एवं चारों अनुयोगमय होना चाहिए। इसके विरोध में यदि निर्युक्तिकार भद्रबाहु थे, ऐसी मान्यता रखने वाले विद्वान् यह कहते हैं कि निर्युक्तिकार तो भद्रबाहु ही थे और वे निर्युक्तियाँ भी अतिविशाल थीं, किन्तु बाद में स्थविर आर्यरक्षित ने अपने शिष्य पुष्यमित्र की विस्मृति एवं भविष्य में होने वाले शिष्यों की मंद-बुद्धि को ध्यान में रखकर जिस प्रकार आगमों के अनुयोगों को पृथक् किया, उसी प्रकार निर्युक्तियों को भी व्यवस्थित एवं संक्षिप्त किया। इसके प्रत्युत्तर में मुनि श्री पुण्यविजयजी का कथन है कि प्रथम तो यह कि आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगों के पृथक् करने की बात तो कही जाती है, किन्तु निर्युक्तियों को व्यवस्थित करने का एक भी उल्लेख नहीं है। स्कंदिल आदि ने विभिन्न वाचनाओं में 'आगमों' को ही व्यवस्थित किया, निर्युक्तियों को नहीं।<sup>50</sup>

दूसरे उपलब्ध निर्युक्तियाँ उन अंग-आगमों पर नहीं हैं जो भद्रबाहु प्रथम के युग में थे। परम्परागत मान्यता के अनुसार आर्यरक्षित के युग में भी आचारांग एवं सूत्रकृतांग उतने ही विशाल थे, जितने भद्रबाहु के काल में थे। ऐसी स्थिति में चाहे एक ही अनुयोग का अनुसरण करके निर्युक्तियाँ लिखी गयीं हों, उनकी विषयवस्तु तो विशाल होनी चाहिए थी। जबकि जो भी

निर्युक्तियाँ उपलब्ध हैं वे सभी माथुरीवाचना द्वारा या वलभी वाचना द्वारा निर्धारित पाठ वाले आगमों का ही अनुसरण कर रही हैं। यदि यह कहा जाय कि अनुयोगों का पृथक्करण करते समय आर्यरक्षित ने निर्युक्तियों को भी पुनः व्यवस्थित किया और उनमें अनेक गाथायें प्रक्षिप्त भईं, तो प्रश्न होता है कि फिर उनमें गोष्ठामाहिल और बोटिक मत की उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण कैसे आये, क्योंकि इन दोनों की उत्पत्ति आर्यरक्षित के स्वर्गवास के पश्चात् ही हुई है।

यद्यपि इस सन्दर्भ में मेरा मुनिश्री से मतभेद है। मेरे अध्ययन की दृष्टि से सप्त निह्नवों के उल्लेख वाली गाथाएँ तो मूल गाथाएँ हैं, किन्तु उनमें बोटिक मत के उत्पत्ति स्थल रथवीरपुर एवं उत्पत्तिकाल वीर नि.सं. 609 का उल्लेख करने वाली गाथायें बाद में प्रक्षिप्त हैं। वे निर्युक्ति की गाथाएँ न होकर भाष्य की हैं, क्योंकि जहाँ निह्नवों एवं उनके मतों का उल्लेख है वहाँ सर्वत्र सात का ही नाम आया है। जबकि उनके उत्पत्तिस्थल एवं काल को सुचित करने वाली इन दो गाथाओं में यह संख्या आठ हो गयी।<sup>51</sup> आश्चर्य यह है कि आवश्यकनिर्युक्ति में बोटिकों की उत्पत्ति की कहीं कोई चर्चा नहीं है और यदि बोटिकमत के प्रस्तोता एवं उनके मन्तव्य का उल्लेख मूल आवश्यकनिर्युक्ति में नहीं है, तो फिर उनके उत्पत्ति-स्थल एवं उत्पत्ति काल का उल्लेख निर्युक्ति में कैसे हो सकता है? वस्तुतः भाष्य की अनेक गाथायें निर्युक्तियों में मिल गई हैं। अतः ये नगर एवं काल सूचक गाथाएँ भाष्य की होनी चाहिये। यद्यपि उत्तराध्ययननिर्युक्ति के तृतीय अध्ययन की निर्युक्ति के अन्त में इन्हीं सप्त निह्नवों का उल्लेख होने के बाद अन्त में एक गाथा में शिवभूति का रथवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में आर्यकृष्ण से विवाद होने के उल्लेख हैं।<sup>52</sup> किन्तु न तो इसमें विवाद के स्वरूप की चर्चा है और न कोई अन्य बात, जबकि उसके पूर्व प्रत्येक निह्नव के मन्तव्य का आवश्यकनिर्युक्ति की अपेक्षा विस्तृत विवरण दिया गया है। अतः मेरी दृष्टि में यह गाथा भी प्रक्षिप्त है। यह गाथा वैसी ही है जैसी कि आवश्यक मूलभाष्य में पायी जाती है। पुनः वहाँ यह गाथा बहुत अधिक प्रासंगिक भी नहीं कही जा सकती। मुझे स्पष्ट रूप से लगता है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति में भी निह्नवों की चर्चा के बाद यह गाथा प्रक्षिप्त की गयी है।

यह मानना भी उचित नहीं लगता कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के काल में रचित निर्युक्तियों को सर्वप्रथम आर्यरक्षित के काल में व्यवस्थित किया गया और पुनः उन्हें परवर्ती आचार्यों ने अपने युग की आगमिक वाचना के अनुसार व्यवस्थित किया। आश्चर्य तब और अधिक बढ़ जाता है कि इस सब परिवर्तन के विरुद्ध भी कोई स्वर उभरने की कहीं कोई सूचना नहीं है। वास्तविकता यह है कि आगमों में जब भी कुछ परिवर्तन करते का प्रयत्न किया गया तो उसके विरुद्ध स्वर उभरे हैं और उन्हें उल्लिखित भी किया गया।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उसके 'अकाममरणीय' नामक अध्ययन की निर्युक्ति में निम्न गाथा प्राप्त होती है --

"सव्वे ए ए दारा मरणविभत्तीए वणिणआ कमसो।

सगलणिउणे पयत्थे जिण घउदस पुव्वि भासंति" ॥ 232 ॥

[ ज्ञातव्य है कि मुनिपुण्यविजय जी ने इसे गाथा 233 लिखा है। किन्तु निर्युक्तिसंग्रह में इस गाथा का क्रम 232 ही है। ]

इस गाथा में कहा गया है कि "मरणविभक्ति में इन सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया गया है, पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से तो जिन अथवा चतुर्दशपूर्वधर ही जान सकते हैं।" यदि निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वधर होते तो वे इस प्रकार नहीं लिखते। शान्त्याचार्य ने स्वयं इसे दो आधारों पर व्याख्यायित किया। प्रथम चतुर्दश पूर्वधरों में आपस में अर्थज्ञान की अपेक्षा से कमी-अधिकता होती है, इसी दृष्टि से यह कहा गया हो कि पदार्थों का सम्पूर्ण स्वरूप तो चतुर्दश पूर्वी ही बता सकते हैं अथवा द्वार गाथा से लेकर आगे की ये सभी गाथाएँ भाष्य गाथाएँ हों।<sup>53</sup> यद्यपि मुनि पुण्यविजय जी इन्हें भाष्य गाथाएँ स्वीकार नहीं करते हैं। चाहे ये गाथाएँ भाष्य- गाथा हों या न हो किन्तु मेरी दृष्टि में शान्त्याचार्य ने निर्युक्तियों में भाष्य गाथा मिली होने की जो कल्पना की है, वह पूर्णतया असंगत नहीं है।

पुनः जैसा पूर्व में सूचित किया जा चुका है, सूत्रकृतांग के पुण्डरीक अध्ययन की निर्युक्ति में पुण्डरीक शब्द की निर्युक्ति करते समय उसके द्रव्य निक्षेप से एकभक्ति, बद्धायुष्य और अभिमुखित नाम-गोत्र ऐसे तीन आदेशों का निर्युक्तिकार ने स्वयं ही संग्रह किया है।<sup>54</sup> बृहत्कल्पसूत्रभाष्य ( प्रथमविभाग, पृ. 44-45 ) में ये तीनों आदेश आर्यसुहस्ति, आर्य मंगू एवं आर्यसमुद्र की मान्यताओं के रूप में उल्लिखित हैं।<sup>55</sup> इतना तो निश्चित है कि ये तीनों आचार्य पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु ( प्रथम ) से परवर्ती हैं और उनके मतों का संग्रह पूर्वधर भद्रबाहु द्वारा सम्भव नहीं है।

दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्ति के प्रारम्भ में निम्न गाथा दी गयी है --

*"वंदामिभद्रबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणि ।*

*सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ।।"*

इसमें सकलश्रुतज्ञानी प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु का न केवल वंदन किया गया है, अपितु उन्हें दशाश्रुतस्कंध, कल्प एवं व्यवहार का रचयिता भी कहा है, यदि निर्युक्तियों के लेखक पूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु होते तो, वे स्वयं ही अपने को कैसे नमस्कार करते ? इस गाथा को हम प्रक्षिप्त या भाष्य गाथा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रथम तो यह ग्रन्थ की प्रारम्भिक मंगल गाथा है, दूसरे चूर्णिकार ने स्वयं इसको निर्युक्तिगाथा के रूप में मान्य किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हो सकते।

इस समस्त चर्चा के अन्त में मुनि जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परम्परागत दृष्टि से दशाश्रुतस्कंध, कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र एवं निशोध ये चार छेदसूत्र, आवश्यक आदि दस निर्युक्तियाँ, उवसगहर् एवं भद्रबाहु संहिता ये सभी चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु स्वामी की कृति माने जाते हैं, किन्तु इनमें से 4 छेद सूत्रों के रचयिता तो चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु ही हैं। शेष दस निर्युक्तियों, उवसगहर् एवं भद्रबाहु संहिता के रचयिता अन्य कोई भद्रबाहु होने चाहिए और सम्भवतः ये अन्य कोई नहीं, अपितु वाराहसंहिता के रचयिता वाराहमिहिर के



भाई, मंत्रविद्या के पारगामी नैमित्तिक भद्रबाहु ही होना चाहिए।<sup>55</sup>

मुनिश्री पुण्यविजयजी ने निर्युक्तियों के कर्त्ता नैमित्तिक भद्रबाहु ही थे, यह कल्पना निम्न तर्कों के आधार पर की है<sup>56</sup> --

1. आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा 1252 से 1270 तक में गंधर्व नागदत्त का कथानक आया है। इसमें नागदत्त के द्वारा सर्प के विष उतारने की क्रिया का वर्णन है।<sup>57</sup> उवसग्गहर (उपसर्गहर) में भी सर्प के विष उतारने की चर्चा है। अतः दोनों के कर्त्ता एक ही हैं और वे मन्त्र-तन्त्र में आस्था रखते थे।

2. पुनः नैमित्तिक भद्रबाहु ही निर्युक्तियों के कर्त्ता होने चाहिए, इसका एक आधार यह भी है कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञागाथा में सूर्यप्रज्ञापति पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की थी।<sup>58</sup> ऐसा साहस कोई ज्योतिष का विद्वान् ही कर सकता था। इसके अतिरिक्त आचारांगनिर्युक्ति में तो स्पष्ट रूप से निमित्त विद्या का निर्देश भी हुआ है।<sup>59</sup> अतः मुनिश्री पुण्यविजयजी निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु को स्वीकार करते हैं।

यदि हम निर्युक्तिकार के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु को स्वीकार करते हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि निर्युक्तियाँ विक्रम की छठीं सदी की रचनाएँ हैं, क्योंकि बाराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ के अन्त में शक संवत् 427 अर्थात् विक्रम संवत् 566 का उल्लेख किया है।<sup>60</sup> नैमित्तिक भद्रबाहु बाराहमिहिर के भाई थे, अतः वे उनके समकालीन हैं। ऐसी स्थिति में यही मानना होगा कि निर्युक्तियों का रचनाकाल भी विक्रम की छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

यदि हम उपर्युक्त आधारों पर निर्युक्तियों को विक्रम की छठीं सदी में हुए नैमित्तिक भद्रबाहु की कृति मानते हैं, तो भी हमारे सामने कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं --

1. सर्वप्रथम तो यह कि पाक्षिक सूत्र एवं नन्दीसूत्र में निर्युक्तियों के अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख है --

"स सुत्ते सअत्थे सगथे सनिज्जुतिए ससंगहणिए"

-( पाक्षिकसूत्र, पृ. 80 )

"संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जा संगहणीओ"

-( नन्दीसूत्र, सूत्र सं. 46 )

इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ विक्रम की छठीं सदी के पूर्व निर्मित हो चुके थे। यदि निर्युक्तियाँ छठीं सदी उत्तरार्द्ध की रचना है तो फिर विक्रम की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध या छठीं शती के पूर्वार्द्ध के ग्रन्थों में छठी सदी के उत्तरार्द्ध में रचित निर्युक्तियों का उल्लेख कैसे संभव है ? इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजय जी ने तर्क दिया है कि नन्दीसूत्र में जो निर्युक्तियों का उल्लेख है, वह गोविन्द-निर्युक्ति आदि को ध्यान में रखकर किया गया होगा।<sup>61</sup> यह सत्य है कि गोविन्दनिर्युक्ति एक प्राचीन रचना है क्योंकि निशीथचूर्ण में गोविन्द-निर्युक्ति के उल्लेख के साथ-साथ गोविन्दनिर्युक्ति की उत्पत्ति की कथा भी दी गई है।<sup>62</sup> गोविन्दनिर्युक्ति के

रचयिता वही आर्यगोविन्द होने चाहिए, जिनका उल्लेख नन्दीसूत्र में अनुयोगद्वार के ज्ञाता के रूप में किया गया है। स्थविरावली के अनुसार ये आर्य स्कंदिल की चौथी पीढ़ी में है।<sup>63</sup> अतः इनका काल विक्रम की पाँचवीं सदी निश्चित होता है। अतः मुनि श्रीपुण्यविजय जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाक्षिकसूत्र एवं नन्दीसूत्र में निर्युक्ति का जो उल्लेख है वह आर्य गोविन्द की निर्युक्ति को लक्ष्य में रखकर किया गया है। इस प्रकार मुनि जी दसों निर्युक्तियों के रचयिता के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु को ही स्वीकार करते हैं और नन्दीसूत्र अथवा पाक्षिकसूत्र में जो निर्युक्ति का उल्लेख है उसे वे गोविन्दनिर्युक्ति का मानते हैं।

हम मुनि श्रीपुण्यविजयजी की इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उपरोक्त दस निर्युक्तियों की रचना से पूर्व चाहे आर्यगोविन्द की निर्युक्ति अस्तित्व में हो, किन्तु नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में निर्युक्ति सम्बन्धी उल्लेख हैं, वे आचारांग आदि आगम ग्रन्थों की निर्युक्ति के सम्बन्ध में हैं, जबकि गोविन्दनिर्युक्ति किसी आगम ग्रन्थ पर निर्युक्ति नहीं है। उसके सम्बन्ध में निशीथचूर्णि आदि में जो उल्लेख हैं वे सभी उसे दर्शनप्रभावक ग्रन्थ और एकेन्द्रिय में जीव की सिद्धि करने वाला ग्रन्थ बतलाते हैं।<sup>64</sup> अतः उनकी यह मान्यता कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में निर्युक्ति के जो उल्लेख हैं, वे गोविन्दनिर्युक्ति के सन्दर्भ में हैं, समुचित नहीं है। वस्तुतः नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में जो निर्युक्तियों के उल्लेख हैं वे आगम ग्रन्थों की निर्युक्तियों के हैं। अतः यह मानना होगा कि नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व अर्थात् पाँचवी शती के पूर्व आगमों पर निर्युक्ति लिखी जा चुकी थी।

2. दूसरे इन दस निर्युक्तियों में और भी ऐसे तथ्य हैं जिनसे इन्हें वाराहमिहिर के भाई एवं नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम संवत् 566) की रचना मानने में शंका होती है। आवश्यकनिर्युक्ति की सामायिकनिर्युक्ति में जो निह्नवों के उत्पत्ति स्थल एवं उत्पत्तिकाल सम्बन्धी गाथायें हैं एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययन की निर्युक्ति में जो शिवभूति का उल्लेख है, वे प्रक्षिप्त हैं। इसका प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययनचूर्णि, जो कि इस निर्युक्ति पर एक प्रामाणिक रचना है, में 167 गाथा तक की ही चूर्णि दी गयी है। निह्नवों के सन्दर्भ में अन्तिम चूर्णि 'जेठ्ठा सुदंसण' नामक 167वीं गाथा की है। उसके आगे निह्नवों के वक्तव्य को सामायिकनिर्युक्ति (आवश्यकनिर्युक्ति) के आधार पर जान लेना चाहिए ऐसा निर्देश है।<sup>65</sup> ज्ञातव्य है कि सामायिकनिर्युक्ति में बोटिकों का कोई उल्लेख नहीं है। हम यह भी बता चुके हैं कि उस निर्युक्ति में जो बोटिक मत के उत्पत्तिकाल एवं स्थल का उल्लेख है, वह प्रक्षिप्त है एवं वे भाष्य गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि में एक संकेत यह भी मिलता है कि उसमें निह्नवों की कालसूचक गाथाओं को निर्युक्तिगाथाएँ न कहकर आख्यानक संग्रहणी की गाथा कहा गया है।<sup>66</sup> इससे भरे उस कथन की पुष्टि होती है कि आवश्यकनिर्युक्ति में जो निह्नवों के उत्पत्तिनगर एवं उत्पत्तिकाल सूचक गाथाएँ हैं वे मूल में निर्युक्ति की गाथाएँ नहीं हैं, अपितु संग्रहणी अथवा भाष्य से उसमें प्रक्षिप्त की गयी हैं। क्योंकि इन गाथाओं में उनके उत्पत्ति नगरों एवं उत्पत्ति-समय दोनों की संख्या आठ-आठ है। इस प्रकार इनमें बोटिकों के उत्पत्तिनगर और समय का भी उल्लेख है -- आश्चर्य यह है कि ये गाथाएँ सप्त निह्नवों की चर्चा के बाद

दी गई -- जबकि बोटिकों की उत्पत्ति का उल्लेख तो इसके भी बाद में है और मात्रा एक गाथा में है। अतः ये गाथाएँ किसी भी स्थिति में निर्युक्ति की गाथायें नहीं मानी जा सकती हैं।

पुनः यदि हम बोटिक निहयव सम्बन्धी गाथाओं को भी निर्युक्ति गाथाएँ मान भी लें तो भी निर्युक्ति के रचनाकाल की अपर सीमा को वीरनिर्वाण संवत् 610 अर्थात् विक्रम की तीसरी शती के पूर्वार्ध से आगे नहीं ले जाया जा सकता है क्योंकि इसके बाद के कोई उल्लेख हमें निर्युक्तियों में नहीं मिले। यदि निर्युक्ति नैमित्तिक भद्रबाहु ( विक्रम की छठी सदी उत्तरार्द्ध ) की रचनाएँ होतीं तो उनमें विक्रम की तीसरी सदी से लेकर छठी सदी के बीच के किसी न किसी आचार्य एवं घटना का उल्लेख भी, चाहे संकेत रूप में ही क्यों न हो, अवश्य होता। अन्य कुछ नहीं तो माथुरी एवं वलभी वाचना के उल्लेख तो अवश्य ही होते, क्योंकि नैमित्तिक भद्रबाहु तो उनके बाद ही हुए हैं। वलभी वाचना के आयोजक देवद्विगणिके के तो वे कनिष्ठ समकालिक हैं, अतः यदि वे निर्युक्ति के कर्त्ता होते तो वलभी वाचना का उल्लेख निर्युक्तियों में अवश्य करते।

3. यदि निर्युक्तियाँ नैमित्तिक भद्रबाहु ( 6ठीवीं सदी- उत्तरार्द्ध ) की कृति होतीं तो उसमें गुणस्थान की अवधारणा अवश्य ही पाई जाती। छठीं सदी के उत्तरार्द्ध में गुणस्थान की अवधारणा विकसित हो गई थी और उस काल में लिखी गई कृतियों में प्रायः गुणस्थान का उल्लेख मिलता है किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, निर्युक्तियों में गुणस्थान सम्बन्धी अवधारणा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति की जिन दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नामों का उल्लेख मिलता है,<sup>67</sup> वे मूलतः निर्युक्ति गाथाएँ नहीं हैं। आवश्यक मूल पाठ में चौदह भूतग्रामों ( जीव-जातियों ) का ही उल्लेख है, गुण-स्थानों का नहीं। अतः निर्युक्ति तो भूतग्रामों की ही लिखी गयी। भूतग्रामों के विवरण के बाद दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नाम दिये गये हैं। यद्यपि यहाँ गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं है। ये दोनों गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि हरिभद्र ( आठवीं सदी ) ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में "अधुनामुमेव गुणस्थानद्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार" कहकर इन दोनों गाथों को संग्रहणी गाथा के रूप में उद्धृत किया है।<sup>68</sup> अतः गुणस्थान सिद्धान्त के स्थिर होने के पश्चात् संग्रहणी की ये गाथाएँ निर्युक्ति में डाल दी गई हैं। निर्युक्तियों में गुणस्थान की अवधारणा की अनुपस्थिति इस तथ्य का प्रमाण है कि उनकी रचना तीसरी-चौथी शती के पूर्व हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि निर्युक्तियाँ नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना नहीं हैं।

4. साथ ही हम देखते हैं कि आचारांगनिर्युक्ति में आध्यात्मिक विकास की उन्हीं दस अवस्थाओं का विवेचन है<sup>69</sup> जो हमें तत्त्वार्थसूत्र में भी मिलती है<sup>70</sup> और जिनसे आगे चलकर गुणस्थान की अवधारणा विकसित हुई है। तत्त्वार्थसूत्र तथा आचारांगनिर्युक्ति दोनों ही विकसित गुणस्थान सिद्धान्त के सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं, जिससे यह फलित होता है कि निर्युक्तियों का रचनाकाल तत्त्वार्थसूत्र के सम-सामयिक ( अर्थात् विक्रम की तीसरी-चौथी सदी ) है। अतः वे छठीं शती के उत्तरार्ध में होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना तो किसी स्थिति में नहीं हो सकतीं। यदि वे उनकी कृतियाँ होती तो उनमें आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं के चित्रण के स्थान पर चौदह गुणस्थानों का भी चित्रण होता है।

5. निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में मूलाचार<sup>71</sup> में उल्लेख तथा अस्वाध्याय काल में भी उनके अध्ययन का निर्देश यही सिद्ध करता है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व मूलाचार की रचना और यापनीय सम्प्रदाय के अस्तित्व में आने के पूर्व का था। यह सुनिश्चित है कि यापनीय सम्प्रदाय 5वीं सदी के अन्त तक अस्तित्व में आ गया था। अतः निर्युक्तियाँ 5वीं सदी से पूर्व की रचना होनी चाहिए -- ऐसी स्थिति में भी वे नैमित्तिक भद्रबाहु ( वि. 6वीं सदी उत्तरार्द्ध ) की कृति नहीं मानी जा सकती है।

पुनः निर्युक्ति का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने भी आवश्यक शब्द की निर्युक्ति करते हुए नियमसार गाथा 142 में किया है।<sup>72</sup> आश्चर्य यह है कि यह गाथा मूलाचार के षडावश्यक नामक अधिकार में भी यथावत् मिलती है। इसमें आवश्यक शब्द की निर्युक्ति की गई है। इससे भी यही फलित होता है कि निर्युक्तियाँ कम से कम मूलाचार और नियमसार की रचना के पूर्व अर्थात् छठी शती के पूर्व अस्तित्व में आ गई थी।

6. निर्युक्तियों के कर्त्ता नैमित्तिक भद्रबाहु नहीं हो सकते, क्योंकि आचार्य मल्लवादी ( लगभग चौथी पाँचवीं शती ) ने अपने ग्रन्थ नयचक्र में निर्युक्तिगाथा का उद्धरण दिया है -- निर्युक्ति लक्षणामाह -- "वत्थुणं संकमणं होति अवत्थु णये सम्भिरुदे"। इससे यही सिद्ध होता है कि वल्मी वाचना के पूर्व निर्युक्तियों की रचना हो चुकी थी। अतः उनके रचयिता नैमित्तिक भद्रबाहु न होकर या तो काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त है या फिर गौतमगोत्रीय आर्यभद्र हैं।

7. पुनः वल्मी वाचना के आगमों के गद्यभाग में निर्युक्तियों और संग्रहणी की अनेक गाथाएँ मिलती हैं, जैसे ज्ञाताधर्म कथा में मल्ली अध्ययन में जो तीर्थकर-नाम-कर्म-बन्ध सम्बन्धी 20 बोलों की गाथा है, वह मूलतः आवश्यकनिर्युक्ति (179-181) की गाथा है। इससे भी यही फलित होता है कि वल्मी वाचना के समय निर्युक्तियों और संग्रहणी सूत्रों से अनेक गाथायें आगमों में डली गई है। अतः निर्युक्तियाँ और संग्रहणियाँ वल्मी वाचना के पूर्व हैं अतः वे नैमित्तिक भद्रबाहु के स्थान पर लगभग तीसरी-चौथी शती के किसी अन्य भद्र नामक आचार्य की कृतियाँ हैं।

8. निर्युक्तियों की सत्ता वल्मी वाचना के पूर्व थी, तभी तो नन्दीसूत्र में आगमों की निर्युक्तियों का उल्लेख है। पुनः अगस्त्यसिंह की दशवैकालिकचूर्णि के उपलब्ध एवं प्रकाशित हो जाने पर यह पुष्ट हो जाती है कि आगमिक व्याख्या के रूप में निर्युक्तियाँ वल्मी वाचना के पूर्व लिखी जाने लगी थी। इस चूर्णि में प्रथम अध्ययन की दशवैकालिकनिर्युक्ति की ५४ गाथाओं की भी चूर्णि की गई है। यह चूर्णि विक्रम की तीसरी-चौथी शती में रची गई थी। इससे यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि निर्युक्तियाँ भी लगभग तीसरी-चौथी शती की रचना हैं।

ज्ञातव्य है कि निर्युक्तियों में भी परवर्ती काल में पर्याप्त रूप से प्रक्षेप हुआ है, क्योंकि अगस्त्यसिंहचूर्णि में दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की चूर्णि में मात्र ५४ निर्युक्ति गाथों की चूर्णि हुई है, जबकि वर्तमान में दशवैकालिकनिर्युक्ति में प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति में १५१ गाथाएँ हैं। अतः निर्युक्तियाँ आर्यभद्रगुप्त या गौतमगोत्रीय आर्यभद्र की रचनायें हैं।

इस सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि निर्युक्तियाँ वल्मी वाचना के आगमपाठों के अनुरूप क्यों है ? इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि निर्युक्तियों का आगम पाठों से उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना उनकी विषयवस्तु से है और यह सत्य है कि विभिन्न वाचनाओं में चाहे कुछ पाठ-भेद रहे हों किन्तु विषयवस्तु तो वही रही है और निर्युक्तियाँ मात्र विषयवस्तु का विवरण देती हैं। पुनः निर्युक्तियाँ मात्र प्राचीन स्तर के और बहुत कुछ अपरिवर्तित रहे आगमों पर हैं, सभी आगम ग्रन्थों पर नहीं हैं और इन प्राचीन स्तर के आगमों का स्वरूप निर्धारण तो पहले ही हो चुका था। माथुरीवाचना या वल्मी वाचना में उनमें बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। आज जो निर्युक्तियाँ हैं वे मात्र आचारांग, सूत्रकृतांग, आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध व्यवहार, बृहत्कल्प पर हैं ये सभी ग्रन्थ विद्वानों की दृष्टि में प्राचीन स्तर के हैं और इनके स्वरूप में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः वल्मीवाचना से समरूपता के आधार पर निर्युक्तियों को उससे परवर्ती मानना उचित नहीं है।

उपर्युक्त समग्र चर्चा से यह फलित होता है कि निर्युक्तियों के कर्त्ता न तो चर्तुदश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु हैं और न वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु। यह भी सुनिश्चित है कि निर्युक्तियों की रचना छेदसूत्रों की रचना के पश्चात् हुई है। किन्तु यह भी सत्य है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व आगमों की देवद्वि के समय हुई वाचना के पूर्व था। अतः यह अवधारणा भी भ्रान्त है कि निर्युक्तियाँ विक्रम की छठवीं सदी के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुई हैं। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व आगमिक निर्युक्तियाँ अवश्य थीं।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि निर्युक्तियों के कर्त्ता श्रुत-केवली पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु तथा वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु दोनों ही नहीं थे, तो फिर वे कौन से भद्रबाहु हैं जिनका नाम निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में माना जाता है। निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में भद्रबाहु की अनुश्रुति जुड़ी होने से इतना तो निश्चित है कि निर्युक्तियों का सम्बन्ध किसी "भद्र" नामक व्यक्ति से होना चाहिए और उनका अस्तित्व लगभग विक्रम की तीसरी-चौथी सदी के आस-पास होना चाहिए। क्योंकि नियमसार में आवश्यक की निर्युक्ति, मूलाचार में निर्युक्तियों के अस्वाध्याय काल में भी पढ़ने का निर्देश तथा उसमें और भगवतीआराधना में निर्युक्तियों की अनेकों गाथाओं की निर्युक्ति-गाथा के उल्लेख पूर्वक उपस्थिति, यही सिद्ध करती है कि निर्युक्ति के कर्त्ता उस अविभक्त परम्परा के होने चाहिए, जिससे श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों का विकास हुआ है। कल्पसूत्र स्थिविरावली में जो आचार्य परम्परा प्राप्त होती है, उसमें भगवान महावीर की परम्परा में प्राचीनगोत्रीय श्रुत-केवली भद्रबाहु के अतिरिक्त दो अन्य 'भद्र' नामक आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है -- 1. आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्र और 2. आर्य कालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र।

संक्षेप में कल्पसूत्र की यह आचार्य परम्परा इस प्रकार है --

महावीर, गौतम, सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, संभूति विजय, भद्रबाहु

(चतुर्दशपूर्वधर), स्थूलिभद्र (जातव्य है कि भद्रबाहु एवं स्थूलिभद्र दोनों ही संभूति विजय के शिष्य थे।), आर्य सुहस्ति, सुस्थित, इन्द्रदिन्न, आर्यदिन्न, आर्यसिंहगिरि, आर्यवज्र, आर्य वज्रसेन, आर्यरथ, आर्य पुष्यगिरि, आर्य फल्गुमित्र, आर्य धनगिरि, आर्यशिवभूति, आर्यभद्र (काश्यपगोत्रीय), आर्यकृष्ण, आर्यनक्षत्र, आर्यरक्षित, आर्यनाग, आर्य ज्येष्ठिल, आर्यविष्णु, आर्यकालक, आर्यसंपालित, आर्यभद्र (गौतमगोत्रीय) आर्यवृद्ध, आर्य संघपालित, आर्यहस्ती, आर्यधर्म, आर्यसिंह, आर्यधर्म, षांडिल्य (सम्भवतः स्कंदिल, जो माथुरी वाचना के वाचना प्रमुख थे) आदि। गाथाबद्ध जो स्थविरावली है उसमें इसके बाद जम्बू, नन्दिल, दुष्यगणि, स्थिरगुप्त, कुमारधर्म एवं देवद्विद्विषकश्रमण के पाँच नाम और आते हैं।<sup>73</sup>

जातव्य है कि नैमित्तिक भद्रबाहु का नाम जो विक्रम की छठीं शती के उत्तरार्ध में हुए हैं, इस सूची में सम्मिलित नहीं हो सकता है। क्योंकि यह सूची वीर निर्वाण सं. 980 अर्थात् विक्रम सं. 510 में अपना अन्तिम रूप ले चुकी थी।

इस स्थविरावली के आधार पर हमें जैन परम्परा में विक्रम की छठीं शती के पूर्वार्ध तक होने वाले भद्र नामक तीन आचार्य के नाम मिलते हैं -- प्रथम प्राचीनगोत्रीय आर्य भद्रबाहु, दूसरे आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्य भद्रगुप्त, तीसरे आर्य विष्णु के प्रशिष्य और आर्यकालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र। इनमें वराहमिहिर के भ्राता नैमित्तिक भद्रबाहु को जोड़ने पर यह संख्या चार हो जाती है। इनमें से प्रथम एवं अन्तिम को तो निर्युक्तिकर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है, इस निष्कर्ष पर हम पहुँच चुके हैं। अब शेष दो रहते हैं-- 1. शिवभूति के शिष्य आर्यभद्रगुप्त और दूसरे आर्यकालक के शिष्य आर्यभद्र। इनमें पहले हम आर्य धनगिरि के प्रशिष्य एवं आर्य शिवभूति के शिष्य आर्यभद्रगुप्त के सम्बन्ध में विचार करेंगे कि क्या वे निर्युक्तियों के कर्त्ता हो सकते हैं ?

**क्या आर्यभद्रगुप्त निर्युक्तियों के कर्त्ता हैं ?**

निर्युक्तियों को शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की रचना मानने के पक्ष में हम निम्न तर्क दे सकते हैं --

1. निर्युक्तियाँ उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ से विकसित श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों सम्प्रदायों में मान्य रही हैं, क्योंकि यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में न केवल शताधिक निर्युक्ति गाथाएँ उद्धृत हैं, अपितु उसमें अस्वाध्याय काल में निर्युक्तियों के अध्ययन करने का निर्देश भी है। इससे फलित होता है कि निर्युक्तियों की रचना मूलाचार से पूर्व हो चुकी थी।<sup>74</sup> यदि मूलाचार को छठीं सदी की रचना भी मानें तो उसके पूर्व निर्युक्तियों का अस्तित्व तो मानना ही होगा, साथ ही यह भी मानना होगा कि निर्युक्तियाँ मूलरूप में अविभक्त धारा में निर्मित हुई थीं। चूँकि परम्परा भेद तो शिवभूति के पश्चात् उनके शिष्यों कौडिन्य और कोट्टवीर से हुआ है। अतः निर्युक्तियाँ शिवभूति के शिष्य भद्रगुप्त की रचना मानी जा सकती हैं, क्योंकि वे न केवल अविभक्त धारा में हुए, अपितु लगभग उसीकाल में अर्थात् विक्रम की तीसरी शती में हुए हैं, जो कि निर्युक्ति का रचना काल है।

2. पुनः आचार्य भद्रगुप्त को उत्तर-भारत की अचेल परम्परा का पूर्वपुरुष दो-तीन आधारों पर माना जा सकता है। प्रथम तो कल्पसूत्र की पट्टावली के अनुसार आर्यभद्रगुप्त आर्यशिवभूति के शिष्य हैं और ये शिवभूति वही हैं जिनका आर्यकृष्ण से मुनि की उपधि (वस्त्र-पात्र) के प्रश्न पर विवाद हुआ था और जिन्होंने अचेलता का पक्ष लिया था। कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्य कृष्ण और आर्यभद्र दोनों को आर्य शिवभूति का शिष्य कहा है। चूँकि आर्यभद्र ही ऐसे व्यक्ति हैं -- जिन्हें आर्यवज्र एवं आर्यरक्षित के शिक्षक के रूप में श्वेताम्बरों में और शिवभूति के शिष्य के रूप में यापनीय परम्परा में मान्यता मिली है। पुनः आर्यशिवभूति के शिष्य होने के कारण आर्यभद्र भी अचेलता के पक्षधर होंगे और इसलिए उनकी कृतियाँ यापनीय परम्परा में मान्य रही होंगी।

3. विदिशा से जो एक अभिलेख प्राप्त हुआ है उसमें भद्रान्वय एवं आर्यकुल का उल्लेख है --

**शमदमवान चीकरत् [ । । ] आचार्य - भद्रान्वयभूषणस्य  
शिष्यो ह्यसावार्थ्यकुलोदगतस्य [ । ] आचार्य - गोश  
(जै. शि. सं. ३. पृ. 57)**

सम्भावना यही है कि भद्रान्वय एवं आर्यकुल का विकास इन्हीं आर्य भद्र से हुआ हो। यहाँ के अन्य अभिलेखों में मुनि का 'पाणितलमोजी' ऐसा विशेषण होने से यह माना जा सकता है यह केन्द्र अचेल धारा का था। अपने पूर्वज आचार्य भद्र की कृतियाँ होने के कारण निर्युक्तियाँ यापनीयों में भी मान्य रही होंगी। ओघनिर्युक्ति या पिण्डनिर्युक्ति में भी जो कि परवर्ती एवं विकसित हैं, दो चार प्रसंगों के अतिरिक्त कहीं भी वस्त्र-पात्र का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। यह इस तथ्य का भी सूचक है कि निर्युक्तियों के काल तक वस्त्र-पात्र आदि का समर्थन उस रूप में नहीं किया जाता था, जिस रूप में परवर्ती श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुआ। वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्ति की मान्यता भगवती आराधना एवं मूलाचार से अधिक दूर नहीं है। आचारांगनिर्युक्ति में आचारांग के वस्त्रैषणा अध्ययन की निर्युक्ति केवल एक गाथा में समाप्त हो गयी है और पात्रैषणा पर कोई निर्युक्ति गाथा ही नहीं है। अतः वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्तियों के कर्त्ता आर्य भद्र की स्थिति भी मथुरा के साधु-साधवियों के अंकन से अधिक भिन्न नहीं है। अतः निर्युक्तिकार के रूप में आर्य भद्रगुप्त को स्वीकार करने में निर्युक्तियों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख अधिक बाधक नहीं हैं।

4. चूँकि आर्यभद्र के निर्यापक आर्यरक्षित माने जाते हैं। निर्युक्ति और चूर्णि दोनों से ही यह सिद्ध है आर्यरक्षित भी अचेलता के ही पक्षधर थे और उन्होंने अपने पिता को, जो प्रारम्भ में अचेल दीक्षा ग्रहण करना नहीं चाहते थे, योजनापूर्वक अचेल बना ही दिया था। चूर्णि में जो कटीपट्टक की बात है, वह तो श्वेताम्बर पक्ष की पुष्टि हेतु डाली गयी प्रतीत होती है।

भद्रगुप्त को निर्युक्ति का कर्त्ता मानने के सम्बन्ध में निम्न कठिनाइयाँ हैं :-

1. आवश्यकनिर्युक्ति एवं आवश्यकचूर्ण के उल्लेखों के अनुसार आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्यापक (समाधिमरण कराने वाले) माने गये। आवश्यकनिर्युक्ति न केवल आर्यरक्षित की विस्तार से चर्चा करती है, अपितु उनका आदरपूर्वक स्मरण भी करती है। भद्रगुप्त आर्यरक्षित से दीक्षा में ज्येष्ठ है, ऐसी स्थिति में उनके द्वारा रचित निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का उल्लेख इतने विस्तार से एवं इतने आदरपूर्वक नहीं आना चाहिए। यद्यपि परवर्ती उल्लेख एकमत से यह मानते हैं कि आर्यभद्रगुप्त की निर्यापना आर्यरक्षित ने करवायी, किन्तु मूल गाथा को देखने पर इस मान्यता के बारे में किसी को सन्देह भी हो सकता है, मूल गाथा निम्नानुसार है --

*"निज्जवण भद्दगुत्ते वीसुं पढणं च तस्स पुच्चगयं।*

*पुवाविओ य भाया रक्खिअखमणोहिं जणओ अ"।।*

- आवश्यकनिर्युक्ति, 776

यहाँ "निज्जवण भद्दगुत्ते" में यदि "भद्दगुत्ते" को आर्ष प्रयोग मानकर कोई प्रथमाविभक्ति में समझे तो इस गाथा के प्रथम दो चरणों का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है-- भद्रगुप्त ने आर्यरक्षित की निर्यापना की और उनसे समस्त पूर्वगत साहित्य का अध्ययन किया।

गाथा के उपरोक्त अर्थ को स्वीकार करने पर तो यह माना जा सकता है कि निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का जो बहुमान पूर्वक उल्लेख है, वह अप्रासंगिक नहीं है। क्योंकि जिस व्यक्ति ने आर्यरक्षित की निर्यापना करवायी हो और जिनसे पूर्वी का अध्ययन किया वह उनका अपनी कृति में सम्मानपूर्वक उल्लेख करेगा ही। किन्तु गाथा का इस दृष्टि से किया गया अर्थ चूर्ण में प्रस्तुत कथानकों के साथ एवं निर्युक्ति गाथाओं के पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए किसी भी प्रकार संगत नहीं माना जा सकता है। चूर्ण में तो यही कहा गया है कि आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना करवायी और आर्यवज्र से पूर्वसाहित्य का अध्ययन किया। यहाँ दूसरे चरण में प्रयुक्त "तस्स" शब्द का सम्बन्ध आर्य वज्र से है, जिनका उल्लेख पूर्व गाथाओं में किया गया है। साथ ही यहाँ 'भद्दगुत्ते' में सप्तमी का प्रयोग है, जो एक कार्य को समाप्त कर दूसरा कार्य प्रारम्भ करने की स्थिति में किया जाता है। यहाँ सम्पूर्ण गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा -- आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना (समाधिमरण) करवाने के पश्चात् (आर्यवज्र से) पूर्वी का समस्त अध्ययन किया है और अपने भाई और पिता को दीक्षित किया। यदि आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्यापक हैं और वे ही निर्युक्तियों के कर्त्ता भी हैं, तो फिर निर्युक्तियों में आर्यरक्षित द्वारा उनका निर्यापन (समाधिमरण) करवाने के बाद किये गये कार्यों का उल्लेख नहीं होना था। किन्तु ऐसा उल्लेख है, अतः निर्युक्तियाँ काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की कृति नहीं हो सकती हैं।

2. दूसरी एक कठिनाई यह भी है कि कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यरक्षित आर्यवज्र से 8वीं पीढ़ी में आते हैं। अतः यह कैसे सम्भव हो सकता है कि 8वीं पीढ़ी में होने वाला व्यक्ति अपने से आठ पीढ़ी पूर्व के आर्यवज्र से पूर्वी का अध्ययन करे। इससे कल्पसूत्र स्थविरावली में दिये गये क्रम में संदेह होता है, हालाँकि कल्पसूत्र स्थविरावली एवं अन्य स्रोतों से इतना तो निश्चित होता है कि आर्यभद्र आर्यरक्षित से पूर्व में हुए हैं। उसके अनुसार



आर्यरक्षित आर्यभद्र गुप्त के प्रशिष्य सिद्ध होते हैं। यद्यपि कथानकों में आर्यरक्षित को तोषलिपुत्र का शिष्य कहा गया है। हो सकता है कि तोषलिपुत्र आर्यभद्र गुप्त के शिष्य रहे हों। स्थविरावली के अनुसार आर्यभद्र के शिष्य आर्यनक्षत्र और उनके शिष्य आर्यरक्षित थे। चाहे कल्पसूत्र की स्थविरावली में कुछ अस्पष्टताएँ हों और दो आचार्यों की परम्परा को कहीं एक साथ मिला दिया गया हो, फिर भी इतना तो निश्चित है कि आर्य भद्र आर्यरक्षित से पूर्ववर्ती या ज्येष्ठ समकालिक हैं। ऐसी स्थिति में यदि निर्युक्तियाँ आर्यभद्रगुप्त के समाधिमरण के पश्चात् की आर्यरक्षित के जीवन की घटनाओं का विवरण देती हैं, तो उन्हें शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त की कृति नहीं माना जा सकता।

यदि हम आर्यभद्र को ही निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं तो इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है कि हम आर्यरक्षित, अन्तिम निह्नव एवं बोटिकों का उल्लेख करने वाली निर्युक्ति गाथाओं को प्रक्षिप्त मानें। यदि आर्यरक्षित आर्यभद्रगुप्त के निर्यापक हैं तो ऐसी स्थिति में आर्यभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं. 560 के आस-पास मानना होगा क्योंकि प्रथम तो आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना अपने युवावस्था में ही करवायी थी और दूसरे तब वीर निर्वाण सं. 584 ( विक्रम की द्वितीय शताब्दि ) में स्वर्गवासी होने वाले आर्यवज्र जीवित थे। अतः निर्युक्तियों में अन्तिम निह्नव का कथन भी सम्भव नहीं लगता, क्योंकि अबद्धिक नामक सातवाँ निह्नव वीरनिर्वाण के 584 वर्ष पश्चात् हुआ है। अतः हमें न केवल आर्यरक्षित सम्बन्धी अपितु अन्तिम निह्नव एवं बोटिकों सम्बन्धी विवरण भी निर्युक्तियों में प्रक्षिप्त मानना होगा। यदि हम यह स्वीकार करने को सहमत नहीं हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त भी निर्युक्तियों के कर्त्ता नहीं हो सकते हैं। अतः हमें अन्य किसी भद्र नामक आचार्य की खोज करना होगा।

**क्या गौतमगोत्रीय आर्यभद्र निर्युक्तियों के कर्त्ता हैं ?**

काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त के पश्चात् कल्पसूत्र पट्टावली में हमें गौतमगोत्रीय आर्यकालक के शिष्य और आर्य संपलित के गुरु भाई आर्य भद्र का भी उल्लेख मिलता है<sup>15</sup>। ये आर्यभद्र आर्य विष्णु के प्रशिष्य एवं आर्यकालक के शिष्य हैं तथा इनके शिष्य के रूप में आर्य वृद्ध का उल्लेख है। यदि हम आर्य वृद्ध को वृद्धवादी मानते हैं, तो ऐसी स्थिति में ये आर्यभद्र सिद्धसेन के दादा गुरु सिद्ध होते हैं। यहाँ हमें यह देखना होगा कि क्या ये आर्यभद्र भी स्पष्ट संघभेद अर्थात् श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर सम्प्रदायों के नामकरण के पूर्व हुए हैं ? यह सुनिश्चित है कि सम्प्रदाय भेद के पश्चात् का कोई भी आचार्य निर्युक्ति का कर्त्ता नहीं हो सकता, क्योंकि निर्युक्तियाँ यापनीय और श्वेताम्बर दोनों में मान्य हैं। यदि वे एक सम्प्रदाय की कृति होतीं तो दूसरा सम्प्रदाय उसे मान्य नहीं करता। यदि हम आर्य विष्णु को दिगम्बर पट्टावली में उल्लिखित आर्य विष्णु समझें तो इनकी निकटता अचेल परम्परा से देखी जा सकती है। दूसरे विदिशा के अभिलेख में जिस भद्रान्वय एवं आर्य कुल का उल्लेख है उसका सम्बन्ध इन गौतमगोत्रीय आर्यभद्र से भी माना जा सकता है क्योंकि इनका काल भी स्पष्ट सम्प्रदाय भेद एवं उस अभिलेख के पूर्व है। दुर्भाग्य से इनके सन्दर्भ में आगमिक व्याख्या साहित्य में कहीं कोई

विवरण नहीं मिलता, केवल नाम-साम्य के आधार पर हम इनके निर्युक्तिकार होने की सम्भावना व्यक्त कर सकते हैं।

इनकी विद्वता एवं योग्यता के सम्बन्ध में भी आगमिक उल्लेखों का अभाव है, किन्तु वृद्धवादी जैसे शिष्य और सिद्धसेन जैसे प्रशिष्य के गुरु विद्वान होंगे, इसमें शंका नहीं की जा सकती। साथ ही इनके प्रशिष्य सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख दिगम्बर और यापनीय आचार्य भी करते हैं, अतः इनकी कृतियों को उत्तर-भारत की अचेल परम्परा में मान्यता मिली हो ऐसा माना जा सकता है। ये आर्यरक्षित से पाँचवीं पीढ़ी में माने गये हैं। अतः इनका काल इनके सौ-डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् ही होगा अर्थात् ये भी विक्रम की तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध या चौथी के पूर्वार्द्ध में कभी हुए होंगे। लगभग यही काल माथुरीवाचना का भी है। चूंकि माथुरीवाचना यापनीयों को भी स्वीकृत रही है, इसलिए इन कालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र को निर्युक्तियों का कर्त्ता मानने में काल एवं परम्परा की दृष्टि से कठिनाई नहीं है।

यापनीय और श्वेताम्बर दोनों में निर्युक्तियों की मान्यता के होने के प्रश्न पर, इससे कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि ये आर्यभद्र आर्य नक्षत्र एवं आर्य विष्णु की ही परम्परा शिष्य हैं। सम्भव है कि दिगम्बर परम्परा में आर्यनक्षत्र और आर्य विष्णु की परम्परा में हुए जिन भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे अचेल धारा में भद्रान्वय और आर्यकुल का आविर्भाव हुआ हो वे ये ही आर्यभद्र हों। यदि हम इन्हें निर्युक्तियों का कर्त्ता मानते हैं, तो इससे नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में जो निर्युक्तियों के उल्लेख हैं वे भी युक्तिसंगत बन जाते हैं।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि निर्युक्तियों के कर्त्ता आर्य नक्षत्र की परम्परा में हुए आर्य विष्णु के प्रशिष्य एवं आर्य संपलित के गुरु-भ्राता गौतमगोत्रीय आर्यभद्र ही हैं। यद्यपि मैं अपने इस निष्कर्ष को अन्तिम तो नहीं कहता, किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि इन आर्यभद्र को निर्युक्ति का कर्त्ता स्वीकार करने पर हम उन अनेक विप्रतिपत्तियों से बच सकते हैं, जो प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु, काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त और वाराहमिहिर के भ्राता नैमित्तिक भद्रबाहु को निर्युक्तियों का कर्त्ता मानने पर आती हैं। हमारा यह दुर्भाग्य है कि अचेलधारा में निर्युक्तियाँ संरक्षित नहीं रह सकीं, मात्र भगवती-आराधना, मूलाचार और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उनकी कुछ गाथायें ही अवशिष्ट हैं। इनमें भी मूलाचार ही मात्र ऐसा ग्रन्थ है जो लगभग सौ निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में उल्लेख करता है। दूसरी ओर सचेल धारा में जो निर्युक्तियाँ उपलब्ध हैं, उनमें अनेक भाष्यगाथायें मिश्रित हो गई हैं, अतः उपलब्ध निर्युक्तियों में से भाष्य गाथाओं एवं प्रक्षिप्त गाथाओं को अलग करना एक कठिन कार्य है, किन्तु यदि एक बार निर्युक्तियों के रचनाकाल, उसके कर्त्ता तथा उनकी परम्परा का निर्धारण हो जाये, तो यह कार्य सरल हो सकता है।

आशा है जैन विद्या के निष्पक्ष विद्वानों की अगली पीढ़ी इस दिशा में और भी अन्वेषण कर निर्युक्ति साहित्य सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करेगी। प्रस्तुत लेखन में मुनि श्री पूण्यविजयजी का आलेख मेरा उपजीव्य रहा है। आचार्य हस्तीमल जी ने जैनधर्म के

मौलिक इतिहास के लेखन में भी उसी का अनुसरण किया है। किन्तु मैं उक्त दोनों के निष्कर्षों से सहमत नहीं हो सका। यापनीय सम्प्रदाय पर मेरे द्वारा ग्रन्थ लेखन के समय मेरी दृष्टि में कुछ नई समस्याएँ और समाधान दृष्टिगत हुए और उन्हीं के प्रकाश में मैंने कुछ नवीन स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे सत्य के कितनी निकट हैं, यह विचार करना विद्वानों का कार्य है। मैं अपने निष्कर्षों को अन्तिम सत्य नहीं मानता हूँ अतः सदैव उनके विचारों एवं समीक्षाओं से लाभान्वित होने का प्रयास करूँगा।

## सन्दर्भ

- 1 (अ) निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती।  
- आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 88  
(ब) सूत्रार्थयो परस्पर निर्योजनं सम्बन्धननिर्युक्तिः  
- आवश्यकनिर्युक्ति टीका हरिभद्र, गाथा 83 की टीका
2. अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं तह विआलणं इहं।  
- आवश्यकनिर्युक्ति, 3
3. ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।  
सण्णा सई मई पण्णा सव्वं आभिनिबोहियं।।  
- आवश्यकनिर्युक्ति, 12
4. आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।  
सूयगडे निज्जुत्तिं वुच्छामि तहा दसाणं च।।  
कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमणि णस्स।  
सुरिअपण्णत्तीए वुच्छं इसिभासियाणं च।।  
- आवश्यकनिर्युक्ति, 84, 85।
5. इसिभासियाइं ( प्राकृत भारती, जयपुर ), भूमिका, सागरमल जैन, पृ. 93
6. बृहत्कथाकोश ( सिंघी जैन ग्रन्थमाला ) प्रस्तावना ए.एन.उपाध्ये, पृ.31
7. आराधना ... तस्या निर्युक्तिराधनानिर्युक्तिः। - मूलाचार, पंचाचाराधिकार, गा. 279  
की टीका ( भारतीय ज्ञानपीठ 1984 )
8. गोविंदाणं पि नमो अणुओगे विउल्लधारणिंदाणं।  
- नन्दिसूत्र स्थविरावली, गा. 41
9. व्यवहारभाष्य, भाग 6, गा. 267-268
10. सो य हेउगोवएसो गोविन्दनिज्जुत्तिमादितो...।  
दरिसणप्पभावगाणि सत्थाणि जहा गोविंदनिज्जुत्तिमादी।  
- आवश्यकचूर्णि भाग1, पृ.31, 353, भाग 2, पृ. 201, 322
11. गोविंदो... पच्छातेण एग्गिदिय जीव साहणं गोविंद निज्जुत्तिकया।  
निशीथ भाष्य गाथा 3656, निशीथचूर्णि, भाग 3, पृ. 260, भाग 4, पृ. 96
12. नन्दीसूत्र, ( सं. मधुकरमुनि ) सूत्रसंख्या,
- 13 (अ) प्राकृतसाहित्य का इतिहास, डॉ. जगदीश चन्द्रजैन, पृ.  
(ब) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ. 6
14. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 84,85

15. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 84
16. बहुरय पपस अव्वत्तसमुच्छादुगतिग अबद्धिया चेव ।  
 सत्तेए णिणहगा खलु तित्थमि उ वद्धमाणस्स ॥  
 बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा ये तीसगुत्ताओ ।  
 अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥  
 गंगाओ दोकिरिया छलुगा तरासियाण उप्पत्ती ।  
 थेराय गोठ्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविति ॥  
 सावत्थी उसभपुरं सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं ।  
 पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीरपुरं च नगराईं ॥  
 चोददस सोलस वासा चोददसवीसुत्तरा य दोण्णि सया ।  
 अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला ॥  
 पंच सया चुलसीया छुच्चेव सया णवोत्तरा होति ।  
 गाणुपत्तीय दुवे उप्पण्णा णिव्वुए सेसा ॥  
 एवं एए कहिया ओसप्पिणीए उ निणहवा सत्त ।  
 वीरवरस्स पवयणे सेसाणं पव्वयणे णत्थि ॥
17. बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ ।  
 अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥  
 गंगाए दोकिरिया छलुगा तेरासिआण उप्पत्ती ।  
 थेरा य गुट्ठमाहिल पुट्ठबद्धं परूविति ॥  
 जिट्ठा सुदंसण जमालि अणुज्ज सावत्थि तिदुगुज्जाणे ।  
 पंच सया य सहस्सं ढकेण जमालि मुत्तूणं ॥  
 रायगिहे गुणसिलए वसु चउदसपुव्वि तीसगुत्ताओ ।  
 आमलकप्पा नयरि मित्तसिरी कूरपिडादि ॥  
 सियवियपोलासाढे जोगे तदिदवसहिययसूले य ।  
 सोहम्मि नलिणगुम्मे रायगिहे पुरिय बलभद्दे ॥  
 मिहिलाए लच्छिघरे महगिरि कोडिन्न आसमित्तो अ ।  
 णेउणमणुप्पवाए रायगिहे खंहरक्खा य ॥  
 नइखेडजणव उल्लग महगिरि धणगुत्त अज्जगमे य ।  
 किरिया दो रायगिहे महातवो तीरमणिनाए ॥  
 पुरिमंतरंजि भुयगुह बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य ।  
 परिवाय पुट्ठसाले घोसण पडिसेहणा वाए ॥  
 विच्छुय सप्पे मूसग भिगी वराही य कागि पोयाइं ।  
 एयाहिं विज्जाहिं सो उ परिव्वायगो कुसलो ॥  
 मोरिय नउलि बिराली वग्घी सीही य उल्लुगि ओवाइ ।  
 प्याओ विज्जाओ गिण्ह परिव्वायमहणीओ ॥

दसपुरनगरुच्छुधरे अज्जरक्खिय पुसमित्तित्तियं च ।  
 गुट्टामाहिल नव अट्ठ सेसपुच्छा य विंझस्स ॥  
 पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुङ्गं कंचुओ समन्नेइ ।  
 एवं पुट्ठमबद्धं जीवं कम्मं समन्नेइ ॥  
 पच्चक्खाणं सेयं अपरिमाणेण होइ कायव्वं ।  
 जेसिं तु परीमाणं तं दुट्ठं होइ आसंसा ।  
 रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे अ ।  
 सिवभूइस्सुवहिंमि पुच्छा थेराण कहणा य ॥

- उत्तराध्ययननिर्युक्ति, 165-178

18. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 29
19. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा 309-326
20. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 207
21. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा 161-163
22. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा, 5
23. (अ) दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा, 79-88  
 (ब) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 143-144
24. जो चेव होइ मुक्खो सा उ विमुत्ति पगयं तु भावेण ।  
 देसविमुक्का साहू सव्वविमुक्का भवे सिद्धा ॥  
 - आचारांगनिर्युक्ति, 331
25. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 497-92
26. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 99
27. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा 3
28. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 127
29. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा, 267-268
30. दशाश्रुत्तरकंधनिर्युक्ति, गाथा 1
31. तहवि य कोई अत्थो उप्पज्जति तम्मि तंमि समयंमि ।  
 पुव्वभाणिओ अणुमतो अ होइ इसिभासिएसु जहा ॥  
 - सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा, 189
32. (क) बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठ विभाग, प्रकाशक-- श्री आत्मानन्द जैन सभा भावनगर,  
 प्रस्तावना, पृ. 4,5
33. वही, आमुख, पृ.2
34. (क) मूढणइयं सुयं कालियं तु ण णया समोयरंति इहं ।  
 अपुहुत्ते समोयारो, नत्थि पुहुत्ते समोयारो ॥  
 जावंति अज्जवइरा, अपुहुत्तं कालियाणुओगे य ।  
 तेणाऽऽरेण पुहुत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥

- आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 762-776

- (ख) तुंबवणसन्निवेशाओ, निग्गयं पिउसगासमल्लीणं ।  
 छम्मासियं छसु जयं, माऊय समन्नियं वंदे ॥  
 जो गुज्झएहिं बालो, निमंतिओ भोयणेण वासंते ।  
 णेच्छइ विणीयविणओ, तं वइररिसिं णमंसांमि ॥  
 उज्जेणीए जो जंभगेहिं आणक्खिऊण थुयमहिओ ॥  
 अक्खीणमहाणसियं सीहगिरिपसंसियं वंदे ॥  
 जस्स अणुण्णाए वायगल्लणे दसपुरम्मि णयरम्मि ।  
 देवेहिं कया महिमा, पयाणुसारिं णमंसांमि ॥  
 जो कन्नाइ धणेण य, णिमंतिओ जुव्वणम्मि गिहवइणा ।  
 नयरम्मि कुसुमनामे, तं बइररिसिं णमंसांमि ॥  
 जणुद्धारआ विज्जा, आगासगमा महारिण्णाओ ।  
 वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुयहराणं ॥  
 (ग) अपुहुत्ते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एगो ।  
 पुहुताणुओगकरणे, ते अत्थ तओ उ वोच्छिन्ना ॥  
 देविदवदिएहिं, महाणुभागोहिं रक्खिअज्जेहिं ।  
 जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥  
 माया य रुदसोमा, पिया य नामेण सोमदेव त्ति ।  
 भाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिआ ॥  
 णिज्जवणभद्गुत्ते, वीसं घट्ठणं च तस्स पुव्वगयं ।  
 पव्वाविओ य भाया, रक्खिअखमणेहिं जणओ य ॥

35. जह जह पएसिणी जाणुगम्मि पालित्तओ भमाडेइ ।  
 तह तह सीसे वियणा, पणस्सइ मुरुंडरायस्स ॥

- पिण्डनिर्युक्ति, गाथा - 498

36. नइ कण्ह-विन्न दीवे, पंचसया तावसाण णिवसंति ।  
 पव्वदिवसेसु कुलवइ, पालेवुत्तार सक्कारे ॥  
 जण सावगाण खिसण, समियक्खण माइठाण लेवेण ।  
 सावय पयत्तकरणं, अविणय लोए चलण धोए ॥  
 पडिल्लाभिय वच्चंता, निबुड्ड नइकूलमिल्लण समियाओ ।  
 विन्धिय पंच सया तावसाण पव्वज्ज साहा य ॥

- पिण्डनिर्युक्ति, गाथा 503-505

37. (अ) वही, गाथा 505  
 (ब) नन्दीसूत्र स्थविरावली गाथा, 36  
 (स) मथुरा के अभिलेखों में इस शाखा का उल्लेख ब्रह्मदासिक शाखा के रूप में मिलता है ।

38. उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमि।  
इंदो आउयसेसं, पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥  
- उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 119
39. अरहंते वंदित्ता चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी।  
एक्कारसंगसुत्तत्थधारए सव्वसाहू य ॥  
- ओघनिर्युक्ति, गाथा 1
40. श्रीमती ओघनिर्युक्ति, संपादक- श्री-मद्विजयसूरीश्वर, प्रकाशन-- जैन ग्रन्थमाला,  
गोपीपुरा, सूरत, पृ. 3-4
41. जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ।  
वंदामि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुअहराणं ॥  
- गाथा, 769
42. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, 763-774
43. अपुहुत्तपुहुत्ताइं निदिदसिउं एत्थ होइ अहिगारो।  
चरणकरणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति ॥  
- दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा 4
44. ओहेण उ निज्जुत्ति वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ।  
अप्पक्खरं महत्थं अणुगहत्थं सुविहियाणं ॥  
- ओघनिर्युक्ति, गाथा 2
45. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 778-783
46. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 164-178
47. एगभविए य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य।  
एते तिन्निवि देसा दव्वंमि य पोंडरीयस्स ॥  
- सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 146
48. उत्तराध्ययन टीका शान्त्याचार्य, उद्धृत बृहत्कल्पसूत्रम् भाष्य, षष्ठ विभाग प्रस्तावना,  
पृ.12
49. वही, पृ.9
50. बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य षष्ठविभाग, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, पृ. 11
51. साव<sup>1</sup>त्थी उसभ<sup>2</sup>पुर सेय<sup>3</sup>विया मिहिल<sup>4</sup> उल्लुगीतीरं।  
पुदिमंत<sup>6</sup>रंजि दस<sup>7</sup>पुर रहवीर<sup>8</sup>पुरं च नगराइं ॥  
चोद्द<sup>1</sup>स सोल<sup>2</sup>स वासा चोद्दसवीसु<sup>3</sup>त्तरा<sup>4</sup> य दोण्णि सप्पा।  
अट्ठावीसो<sup>5</sup> य दुवे पंचेव सया<sup>6</sup> उ चोयाला ॥  
- आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 81-82
52. रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे अ।  
सिवभूइस्सुवहिमि पुच्छा थोराण कहणा य ॥  
- उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा 178



53. स्वयं चतुर्दशपूर्वित्वेऽपि यच्चतुर्दशपूर्व्युपादानं तत् तेषामपि षट्स्थानपतितत्वेन शेषमहात्म्यस्थापनपरमदुष्टमेव, भाष्यगाथा वा द्वरगाथाद्वयादारभ्य लक्ष्यन्त इति प्रेर्यानवकाश एवेति ।।

- उत्तराध्ययन टीका, शान्त्याचार्य, गाथा 233

54. एगभविण्णं य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य ।

एते तिन्निवि देसा दव्वंमि य पोंडरीयस्स ।।

- सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 146

55. ये चादेशः<sup>4</sup>, यथा-- आर्यमङ्गुराचार्यस्त्रिविधं शङ्खमिच्छति-- एकभाविकं बद्ध्युष्कमभिमुखनामगोत्रं च, आर्यसमुद्रो द्विविधम् -- बद्ध्युष्कमभिमुखनामगोत्रं च, आर्यसुहस्ती एकम्-- अभिमुखनाम गोत्रमिति:

- बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य भाग 1, गाथा 144

56. वही, षष्ठविभाग, पृ. सं. ५५-१७

57. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1252-1260

58. वही, गाथा- 85

59. जत्थं य जो पण्णवओ कस्सवि साहइ दिसासु य णिमित्तं ।

जत्तोमुहो य दाई सा पुव्वा पच्छवो अवरा ।।

- आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 51

60. सप्ताश्विवेदसंख्य, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।

अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ।।

- पंचसिद्धान्तिका उद्धृत बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य षष्ठविभाग, प्रस्तावना, पृ. 17

61. बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठविभाग, प्रस्तावना, पृ. 18

62. गोविंदो नाम भिक्खू...

पच्छा तेण एगिदियजीवसाहणं गोविंदनिज्जुत्ती कया ।। एस नाणतेणो ।।

- निशैथचूर्ण, भाग 3, उद्देशक 11-सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृ. 260

63. (अ) गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिदाणं ।

णिच्चं खंतिदयाणं पस्वणे दुल्लभिंदाणं ।।

- नन्दीसूत्र, गाथा 81

(ब) आर्यं स्कंदिल

|

आर्यं हिमवंत

|

आर्यं नागार्जुन

|

आर्य गोविन्द

- देखे नन्दीसूत्र स्थविरावली, गाथा 36-41

64. पच्छ तेण एगिंदियजीवसाहणं गोविदणिज्जुत्ती कया। एस णाणतेणो। एव दंसणपभावगसत्यट्ठा।

- निशीथघूर्णि, पृ. 260

65. निणहयाण वत्तव्वया भाणियव्वा जहा सामाइयनिज्जुत्तीए।

- उत्तराध्ययनघूर्णि, जिन्दासगाणिमहत्तर, विक्रम संवत् 1989, पृ. 95,

66. इदाणि एतेसिं कालो भण्णति 'चउददस सोलस वीसा' गाहाउ दो, इदाणि भण्णति -- 'चोददस वासा तइया' गाथा अक्खाणयसंगहणी। वही, पृ. 95

67. मिच्छदिदट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छदिदट्ठी य।

अविरयसम्मदिदट्ठी विरयाविरए पमत्ते य।।

तत्तो य अप्पमत्तो नियट्ठि अनियट्ठि बायरे सुहुमे।

उवसंत खीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य।।

- आवश्यकनिर्युक्ति, (निर्युक्तिसंग्रह, पृ. 140)

68. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्र) भाग 2, प्रकाशक श्री भेरुलाल कन्हैया लाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वीर सं. 2508, पृ. 106-107

69. सम्मत्तुपत्ती सावए य विरए अणंतकम्मसे।

दंसणमोहक्खवए उवसामंते य उवसते।।

खवए य खीणमोहे जिणे अ सेटी भवे असंखिज्जा।

तव्विवरीओ कालो संखज्जुगुणाइ सेटीए।।

- आचारांगनिर्युक्ति, गाथा 222, 223 (निर्युक्तिसंग्रह, पृ. 441)

70. सम्यदृष्टिश्चावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीण मोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जराः।।

- तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वति) सुखलाल संघवी, 9/47

71. (अ) णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण।

अह वित्थार पंसगोऽणियोगदो होदि णादव्वो।।

आवासगाणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा।

णो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धि, जादि विसुद्धप्पा।।

- मूलाचार (भारतीय ज्ञानपीठ) 691, 692

... एसो अण्णो गंधो कप्पदि पठिदुं असज्झाए।

आराहणा णिज्जुत्ति मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।

पच्चक्खाणावसय धम्मकहाओ एरिस ओ।।

- मूलाचार, 278, 279

(ब) ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावस्सयति बोधव्वा।

जुत्ति त्ति उवाअत्ति ण णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती।।

- मूलाचार, 515

72. ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा  
जुत्ति त्ति उवाअंति य णिरवयवो होदि णिजुत्ती ।।

- नियमसार, गाथा 142, लखनऊ, 1931

73. देखें-- कल्पसूत्र, स्थविरावली विभाग,

74. देखें -- मूलाचार षडावश्यक-अधिकार

75. थेरस्स णं अज्ज विन्हुस्स माढरस्सगुत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते  
थेरस्सणं अज्जकालस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगुत्ते अज्ज  
संपल्लिए थेरे अज्जभद्दे, एणसि दुन्हवि गोयमसगुत्ताणं अज्ज बुड्ढे थेरे ।

- कल्पसूत्र ( मुनिप्यारचन्दजी, रतलाम ) स्थविरावली, पृ. 233

# जैन एवं बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के अर्थ निर्धारण और अनुवाद की समस्या

- प्रो. सागरमल जैन

किसी शब्द के अर्थ का निर्धारण करने या उसे पारिभाषित करने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। क्योंकि शब्दों के वाच्यार्थ बदलते रहते हैं। साथ ही उनमें अर्थ संकोच और अर्थ विस्तार भी होता है। यह कठिनाई तब और अधिक समस्याप्रद बन जाती है, जब एक ही परम्परा में कालक्रम में शब्द का अर्थ बदल जाता है। कुछ शब्द कालक्रम में अपने पुराने अर्थ को खोजकर नये अर्थ को ग्रहण करते हैं तो कुछ शब्द एक परम्परा से आकर दूसरी परम्परा में मूल अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ में रुढ़ हो जाता है। आसव शब्द जैन और बौद्ध परम्परा में समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, किन्तु उसके अर्थ भिन्न हो गये हैं। जैन और बौद्ध परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्दों के साथ यही स्थिति रही है। कुछ शब्द अन्य परम्परा से जैन परम्परा में आये, किन्तु यहाँ आकर उनका अर्थ बदल गया। पुनः कुछ शब्द जैन एवं बौद्ध परम्परा में भी कालक्रम में अपने पुराने अर्थ को छोड़कर नये-नये अर्थ को ग्रहण करते रहे हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम इन्हीं दो कठिनाइयों के सन्दर्भ में जैन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण की समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

शब्द के अर्थ-निर्धारण की समस्या से जैनाचार्य प्राचीन काल से ही परिचित थे, अतः उन्होंने सर्वप्रथम निक्षेप और नय के सिद्धान्तों के सिद्धान्तों का विकास किया, ताकि सन्दर्भ और वक्ता के अभिप्राय के आधार पर शब्द एवं वाक्य के अर्थ का निर्धारण किया जा सके। शब्द के अर्थ निर्धारण में उसके सन्दर्भ का विचार करना यह निक्षेप का कार्य है और वक्ता के अभिप्राय के आधार पर वाक्य का अर्थ समझना यह नय का कार्य माना गया। निक्षेप शब्द के अर्थ का निश्चय करता है और नय वाक्य के अर्थ का निश्चय करता है।

शब्दों के अर्थ-निर्धारण एव उनको पारिभाषित करने में एक समस्या यह भी होती है कि ग्रन्थ किसी अन्य देश एवं काल की रचना होता है और उसके व्याख्याकार या टीकाकार किसी अन्य देश और काल के व्यक्ति होते हैं; इसलिए कभी-कभी उनके द्वारा की गई शब्द की परिभाषाएँ अपने मूल अर्थ से भिन्न होती हैं और कभी-कभी भ्रांत भी। जैन परम्परा में कई शब्दों के टीकाकारों के द्वारा किये गये अर्थ अपने मूल अर्थ से भिन्न हैं और कभी-कभी तो ग्रन्थ के हार्द को भी समझने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं। यह समस्या भी विशेष रूप से उन ग्रन्थों के सन्दर्भ में है जो पर्याप्त प्राचीन है। ऐसे ग्रन्थों में हम आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और कुछ छेदसूत्रों को ले सकते हैं। यहाँ हम इनके सभी शब्दों के सन्दर्भ में तो विचार नहीं कर सकेंगे, किन्तु कुछ प्रतिनिधि पारिभाषिक शब्दों को लेकर उनके अर्थ-निर्धारण की समस्या पर विचार करेंगे।

सर्वप्रथम हम अरिहंत या अरहन्त शब्द को ही लें। प्राचीनकाल में यह शब्द जैन परम्परा का विशिष्ट शब्द न होकर भारतीय परम्परा का एक सामान्य शब्द था। अपने मूल अर्थ में यह शब्द पूजा-योग्य अर्थात् पूजनीय या "सम्माननीय" अर्थ का वाचक था और उसके बाद यह शब्द वासनाओं से मुक्त एवं राग-द्वेष के विजेता वितराग व्यक्ति के लिए प्रयोग किया जाने लगा, क्योंकि वह सम्माननीय या पूजनीय होता था। प्राचीन जैन एवं बौद्धग्रन्थों में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ, किन्तु जब जैन परम्परा में कर्म-सिद्धान्त का विकास हुआ तो इस शब्द को पुनः एक नया अर्थ मिला और यह कहा गया कि जो व्यक्ति चारघाती कर्मों को अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय को क्षय कर लेता है, वह "अर्हत्" है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय करने के कारण "अरहन्त" को सर्वज्ञ का पर्यायवाची माना गया। इस प्रकार "अरहन्त" शब्द ने जैन परम्परा में एक अपना विशेष अर्थ प्राप्त किया। कालान्तर में अरिहन्त के (अरि+हंत) रूप से यह राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को मारने वाला और अरुहंत के रूप में जो संसार में पुनः जन्म नहीं लेने वाला माना गया, यह व्याख्या जैन और बौद्ध दोनों में है। अतः आगे चलकर यह अर्थ भी स्थिर नहीं रह सका और जैन परम्परा में अरहन्त शब्द केवल तीर्थंकरों का पर्यायवाची बन गया। यदि हम "सर्वणु" (सर्वज्ञ) और केवली शब्द का इतिहास देखें तो इनके भी अर्थ में कालान्तर में विकास देखा जाता है। प्राचीन स्तर के जैन आगमों जैसे -- सूत्रकृतांग, भगवती आदि में सर्वज्ञ शब्द उस अर्थ का वाचक नहीं था जो उसे बाद में मिला। तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य-साहित्य में तथा अन्य ग्रन्थों में "सर्वज्ञ" और "केवली" शब्द सभी द्रव्यों और उनकी पर्यायों के त्रैकालिक ज्ञान के वाचक माने गये हैं, किन्तु सूत्रकृतांग एवं भगवती में सर्वज्ञ और केवली शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। वहाँ "सर्वज्ञ" शब्द का अर्थ आत्मज्ञ, आत्मद्रष्टा, आत्मसाक्षी और अधिक से अधिक जीवन और जगत् के सम्यक् स्वरूप का ज्ञाता ही था, इसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी प्रारम्भ में सर्वज्ञ का तात्पर्य हेय और उपादेय का विवेक था। दूसरे शब्दों में उस काल तक सर्वज्ञ शब्द आत्मज्ञान एवं दार्शनिक ज्ञान का ही पर्यायवाची था, अन्यथा भगवती में केवली "सिय जाणइ सिय ण जाणइ" ऐसा उल्लेख नहीं होता। इस सम्बन्ध में पंडित सुखलालजी ने पर्याप्त विचार किया है। सर्वज्ञ का पर्यायवाची "केवली" शब्द भी अपने प्राचीन अर्थ को खोकर नवीन अर्थ में सर्वज्ञाताद्रष्टा अर्थात् सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों के त्रैकालिक ज्ञान का वाचक बन गया, यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि केवली शब्द प्राचीन सांख्य परम्परा से जैन परम्परा में आया और वहाँ वह आत्मद्रष्टा के अर्थ में या प्रकृति-पुरुष के विवेक का ही वाचक था। यही कारण था कि कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा, कि वस्तुतः केवली आत्मा को जानता है, वह लोकालोक को जानता है यह व्यवहार नय या व्यवहार दृष्टि है। पाली त्रिपिटक में सर्वज्ञ का जो मखौल उड़ाया गया है, वह उसके दूसरे अर्थ को लेकर है। यही स्थिति "बुद्ध", "जिन" और "चीर" शब्दों की है। एक समय तक ये जैन, बौद्ध एवं अन्य श्रमण परम्पराओं के सामान्य शब्द थे। प्रारम्भ में इनका अर्थ क्रमशः इन्द्रियविजेता, प्रज्ञावान और कष्टसहिष्णुसाधक था किन्तु आगे चलकर जहाँ जैन परम्परा में "जिन" शब्द और बौद्ध परम्परा में "बुद्ध" शब्द विशिष्ट अर्थ के वाचक बन गये, जैन परम्परा में "जिन" शब्द को मात्र तीर्थंकर का पर्यायवाची और बौद्ध

परम्परा में बुद्ध को धर्मचक्र प्रवर्तक बुद्ध का वाचक माना गया। "वीर" शब्द जहाँ आचारांग में कष्ट-सहिष्णु साधक या संयमी मुनि का पर्यायवाची था, वहीं आगे चलकर महावीर का पर्यायवाची मान लिया गया। यही स्थिति "तथागत" शब्द की है। आचारांग में "तथागत" शब्द मुख्य रूप से प्रज्ञावान मुनि के लिए प्रयुक्त हुआ किन्तु कालान्तर में जैन परम्परा से यह शब्द लुप्त हो गया और बौद्ध परम्परा का विशिष्ट शब्द बन गया और वहाँ उसे भगवान बुद्ध का पर्यायवाची मान लिया गया।

इसी प्रकार यदि "दंसण" (दर्शन) शब्द को लें तो उसके अर्थ में भी स्वयं जैन परम्परा में ही अर्थ परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन जैनागम आचारांग में यह शब्द द्रष्टाभाव या साक्षीभाव के अर्थ में "प्रयुक्त" हुआ, जबकि जैन-ज्ञान मीमांसा में यह शब्द ऐन्द्रिक और मानसिक संवेदनों के रूप में प्रयोग किया गया। आगमों में "जाणई" और "पासई" ऐसे दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। वहाँ "पास" या "पासइ" शब्द का अर्थ देखना था और वह दंसण का पर्यायवाची था। प्राचीनस्तर के ग्रन्थों में दर्शन या देखने का तात्पर्य जागतिक घटनाओं को समभावपूर्वक देखने से रहा जैसे "एस पासगस्स दंसणं, एस कुसलस्स दंसणं" किन्तु आगे चलकर यह शब्द जब जिण-दंसण आदि विशेषणों के साथ प्रयुक्त हुआ तो वह "दर्शन" (फिल्लासोफी) का पर्यायवाची बन गया और उस अर्थ में उसे दृष्टि कहा गया और उसी से सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि शब्द निष्पन्न हुए। पुनः आगे चलकर जैनागमों में ही यह दंसण शब्द श्रद्धान का पर्यायवाची हो गया। आचारांग में "दंसण" शब्द साक्षीभाव के अर्थ में एवं सूत्रकृतांग में दर्शन (फिल्लासोफी) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। किन्तु उत्तराध्ययन में "णाणेन जाणई भावे दंसणेण सद्दहे" कहकर दर्शन को श्रद्धान का पर्यायवाची बना दिया गया। जैनकर्म सिद्धान्त में ही दर्शन-मोह और दर्शनावरण इन दोनों शब्दों में प्रयुक्त दर्शन शब्द दो भिन्न अर्थों का वाचक बन गया है। "दर्शनावरण" में रहे हुए "दर्शन" शब्द का तात्पर्य जहाँ ऐन्द्रिक और मानसिक संवेदन है वहाँ "दर्शन मोह" में "दर्शन" शब्द का अर्थ दार्शनिक दृष्टिकोण या दर्शन (फिल्लासोफी) है। सम्प्रदाय भेद से भी जैन परम्परा में शब्दों के अर्थ में भिन्नता आयी है। उदाहरण के रूप में "अचेल" शब्द का अर्थ जहाँ श्वेताम्बरों में अल्प-चेल किया तो दिगम्बरों में वस्त्र का अभाव ऐसा किया है।

इसी प्रकार "पुद्गल" शब्द को लें। "पुद्गल" शब्द भगवतीसूत्र में व्यक्ति (इण्डीविजुअल) अथवा व्यक्ति के शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इसके साथ ही साथ उसी ग्रन्थ में "पुद्गल" शब्द भौतिक-पदार्थ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। पुद्गलास्तिकाय में प्रयुक्त पुद्गल शब्द जहाँ भौतिक द्रव्य (मैटर) का सूचक है, वहीं भगवती में यह शब्द व्यक्ति एवं शरीर का तथा दशवैकालिक में "मांस" का वाचक रहा है। आज जैनसाधुओं की भाषा (कोड-लैंग्वेज) में यह शब्द "धन" या "मुद्रा" का पर्यायवाची है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल का अर्थ व्यक्ति/शरीर हुआ है। "आत्मा" शब्द जिसके लिए प्राकृत भाषा में "आता", "अत्ता", "अप्पा", "आदा" और "आया" रूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु यह शब्द भी मात्र आत्मा का वाचक नहीं रहा है। भगवतीसूत्र में यह अपनेपन के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और कभी यह

"स्वधर्म" या "स्वगुणो" का भी प्रतीक माना गया है। भगवतीसूत्र में जब यह पूछा गया कि क्या प्रथम पृथ्वी आत्मा है ? तो वहाँ इसका अर्थ स्वधर्म, स्वगुण है। इसी प्रकार जैन आगमों में "अप्पाणविवासरामि" में "अप्पा" शब्द अपनेपन का सूचक है। बौद्ध परम्परा में "अनत्त" (आत्मा) शब्द का प्रयोग "अपना नहीं" इसी अर्थ में हुआ है। इस प्रकार प्राचीन जहाँ बौद्ध परम्परा में भी "अनत्त" (अनात्म) शब्द का प्रयोग अपना नहीं है इसी में हुआ है। इस प्रकार प्राचीन जहाँ बौद्धग्रन्थों के "अत्त" शब्द अपनेपन या मेरेपन का वाचक ही रहा है। वहीं जैन परम्परा में यह चेतना सत्ता का वाचक माना गया। जैन परम्परा में सामान्यतया जीव और आत्मा पर्यायवाची रहें, किन्तु वेदान्त में उन्हें पृथक्-पृथक् अर्थ का वाचक माना गया। उपनिषदों में "आत्मन्" शब्द "ब्रह्म" या परम् सत्ता का वाचक भी रहा है।

इसी प्रकार "धर्म" शब्द को ही लें, उसे जैन परम्परा में अनेक प्रकार से पारिभाषित किया गया। जहाँ "वत्थुसहावोधम्मो" में धर्म को वस्तु का स्वरूप या स्वभाव कहा गया वहीं "सेमियाए आरिए धम्मे पव्वइए" में "धर्म" शब्द सम्भाव का सूचक माना गया, किन्तु यही शब्द जब धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय में प्रयुक्त हुआ तो वहाँ इसका अर्थ बिलकुल ही बदल गया और वह गति-सहायक द्रव्य के रूप में व्याख्यायित किया गया। ये तो हमने कुछ शब्दों के उदाहरण दिये किन्तु ऐसे अन्य कई शब्द हैं जो कालक्रम में अपना नया-नया अर्थ ग्रहण करते गए और एक ही परम्परा में कालक्रम में वे भिन्न-भिन्न अर्थों में रूढ़ होते चले गये। जैनागमों में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो अन्य परम्पराओं से उनके मूल अर्थ में ही ग्रहीत हुए थे किन्तु बाद में उनका मूल अर्थ टीकाकारों के समक्ष नहीं रहा और उन्हें भिन्न अर्थ में ही व्याख्यायित किया गया। उदाहरण के रूप में "आचारांग" में प्रयुक्त "विपास्सी" और विपस्सना" शब्द बौद्ध परम्परा के ज्ञान के अभाव में टीकाकारों के द्वारा अन्य अर्थ में पारिभाषित किये गये। कुछ शब्दों का अर्थ तो इसलिए दुर्बोध हो गया कि जिस क्षेत्र का वह शब्द था उस क्षेत्र के सम्बन्ध में टीकाकारों के अज्ञान के कारण वह अन्य अर्थ में ही पारिभाषित किया गया, उदाहरण के रूप में "तालपलम्ब" (ताड़प्रलम्ब) शब्द जो निशीथ में प्रयुक्त हुआ है वह अपने मूल अर्थ में अंकुरित ताड़बीज का सूचक था किन्तु जब जैन मुनिसंघ राजस्थान और गुजरात जैसे क्षेत्र में चला गया तो वह उसके अर्थ से अनभिज्ञ हो गया और आज जैन परम्परा में तालपलम्ब केले (कदलीफल) का वाचक हो गया है। इस प्रकार जैनागमों में प्रयुक्त अनेक शब्द टीकाकारों के काल तक भी अपना अर्थ खो चुके थे और टीकाकारों ने उन्हें अपने ढंग से और अपनी परम्परा के अनुसार पारिभाषित करने का प्रयास किया। वस्तुतः जो ग्रन्थ जिस-जिस देश और काल में निर्मित होता है उसके शब्दों के अर्थों को उस देश और काल की परम्परा और अन्य ग्रन्थों के आधार पर पारिभाषित किया जाना चाहिए। उस देशकाल के ज्ञान के अभाव में अनेक शब्दों को टीकाकारों ने अपनी कल्पना के अनुसार पारिभाषित कर दिया है। उससे बचना आवश्यक है। आचारांग में "संधि" शब्द आसक्ति या रागात्मकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था किन्तु टीकाकार भी अनेक स्थलों पर उसे अवसर के रूप में पारिभाषित करते हैं। "आसव" शब्द जैन और बौद्ध परम्पराओं में किन्-किन् अर्थों से गुजरा है, इसकी चर्चा "एलेक्सवेमेन" ने की है। मोक्ख (मोक्ष) और "निव्वाण" (निर्वाण) शब्द सामान्यतया जैन परम्परा में पर्यायवाची रूप

में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु उत्तराध्ययन में ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न स्थितियों के वाचक हैं। यहाँ कहा गया कि अमुक्त का निर्वाण नहीं (अमोक्खस्स नत्थि निव्वाण)।

इसलिए प्राचीन प्राकृत और पालि साहित्य के अनुवाद और उनमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अर्थ का निर्धारण एक कठिन और श्रमसाध्य कार्य है जो विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में सम्भव नहीं है, जो शब्द किसी काल में पर्यायवाची रूप में या भाषा सौष्टव के लिए प्रयुक्त होते थे, व्युत्पत्ति और प्रतिभा के आधार पर उन्हें भिन्न-भिन्न अर्थ का वाचक बना दिया है। पालिसाहित्य में निगण्ठ-नाटपुत्त के सन्दर्भ में "सव्ववारिवारितो" शब्द का प्रयोग हुआ है। अनुवादकों ने "वारि" का अर्थ जल किया, जबकि सूत्रकृतांग के वीरस्तुति नामक अध्ययन के आधार पर देखें तो उसमें प्रयुक्त वारि शब्द का अर्थ जल न होकर पाप होगा क्योंकि सूत्रकृतांग में महावीर की स्तुति करते हुए कहा गया है -- "से वारिया सव्व वारं इत्थीसरायभत्तं" अर्थात् उन्होंने लोगों को सभी पाप कर्मों, स्त्री और रात्रिभोजन से निवृत्त किया।

यहाँ मैं इस बात पर विशेष रूप से बल देना चाहूँगा कि जहाँ जैन आगमों के पारिभाषित शब्दों के अर्थ-निर्धारण के लिए बौद्ध पिटक का अध्ययन आवश्यक है वहीं बौद्ध पिटक साहित्य के शब्दों के अर्थ निर्धारण के लिए जैन आगमों का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि ये दोनों परम्पराएँ एक ही देश और काल की उपज हैं। बिना बौद्ध साहित्य के अध्ययन के आचारांग जैसे प्राचीनस्तर के ग्रन्थ में प्रयुक्त "विपस्सि, तथागत, पडिसंखा, आयतन, संधि आदि शब्दों के अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकते उसी प्रकार पिटक साहित्य में प्रयुक्त "वारि" जैसे अनेक शब्दों का अर्थ बिना जैन आगमों के अध्ययन से स्पष्ट नहीं हो सकता। हमें यह स्मरण रखना होगा कि कोई भी परम्परा शून्य में उत्पन्न नहीं होती उसका एक देश और काल होता है जहाँ से वह अपनी शब्दावली ग्रहण करती है। यह ठीक है कि अनेक बार उस शब्दावली को नया अर्थ दिया जाता है फिर भी शब्द के मूल अर्थ को पकड़ने के लिए हमें उसे देश, काल व परम्परा का ज्ञान भी प्राप्त करना होगा, जिसमें उसका साहित्य निर्मित हुआ है। अतः पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण की प्रक्रिया में न तो उस देश व काल की उपेक्षा की जा सकती है, जिसमें उन शब्दों ने अपना अर्थ प्राप्त किया है और न समकालीन परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन के बिना ही अर्थ-निर्धारण की प्रक्रिया को सम्पन्न किया जा सकता है।



# जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन : एक विमर्श

- प्रो. सागरमल जैन

प्राकृत एक भाषा न होकर, भाषा समूह है। प्राकृत के इन अनेक भाषिक रूपों का उल्लेख हेमचन्द्र प्रभृति प्राकृत-व्याकरण-विदों ने किया है। प्राकृत के जो विभिन्न भाषिक रूप उपलब्ध हैं, उन्हें निम्न भाषिक वर्गों में विभक्त किया जाता है -- मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, जैन-शौरसेनी, महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री, पैशाची, ब्राह्म, चूलिका, ठक्की आदि। इन विभिन्न प्राकृतों से ही आगे चलकर अपभ्रंश के विविध रूपों का विकास हुआ और जिनसे कालान्तर में असमिया, बंगला, उड़िया, भोजपुरी या पूर्वी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि भारतीय भाषायें अस्तित्व में आयीं। अतः प्राकृत सभी भारतीय भाषाओं की पूर्वज है और आधुनिक हिन्दी का विकास भी इन्हीं के आधार पर हुआ।

मेरी दृष्टि में संस्कृत भाषा का विकास भी इन्हीं प्राकृतों को संस्कारित करके और विभिन्न बोलियों के मध्य एक सामान्य सम्पर्क भाषा के रूप में हुआ है, जिसका प्राचीन रूप छान्दस (वैदिक संस्कृत) था। वही साहित्यिक संस्कृत की जननी है। जिस प्रकार विभिन्न उत्तर भारतीय बोलियों (अपभ्रंश के विविध रूपों) से हमारी हिन्दी भाषा का विकास हुआ है, उसी प्रकार प्राचीनकाल में विभिन्न प्राकृत बोलियों से संस्कृत भाषा का निर्माण हुआ। संस्कृत शब्द ही इस तथ्य का प्रमाण है कि वह एक संस्कारित भाषा है, जबकि प्राकृत शब्द ही प्राकृत को मूल भाषा के रूप में अधिष्ठित करता है। प्राकृत की "प्रकृतिर्यस्य संस्कृतम्" कहकर जो व्याख्या की जाती है, वह मात्र संस्कृत-विदों को प्राकृत-व्याकरण का स्वरूप समझाने की दृष्टि से की जाती है।

प्राकृत के सन्दर्भ में हमें एक दो बातें और समझ लेना चाहिए। प्रथम सभी प्राकृत व्याकरण संस्कृत में लिखे गये हैं, क्योंकि उनका प्रयोजन संस्कृत के विद्वानों को प्राकृत भाषा के स्वरूप का ज्ञान कराना रहा है। वास्तविकता तो यह है कि प्राकृत भाषा की आधरगत बहुविधता के कारण उसका कोई एक सम्पूर्ण व्याकरण बना पाना ही कठिन है। उसका विकास विविध बोलियों से हुआ है और बोलियों में विविधता होती है। साथ ही उनमें देश कालगत प्रभावों और मुख-सुविधा (उच्चारण सुविधा) के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। प्राकृत निर्झर की भाँति बहती भाषा है उसे व्याकरण में आबद्ध कर पाना सम्भव नहीं है। इसीलिए प्राकृत को "बहुल" अर्थात् विविध वैकल्पिक रूपों वाली भाषा कहा जाता है।

वस्तुतः प्राकृत अपने मूल रूप में भाषा न होकर बोलियाँ ही रहीं हैं। यहाँ तक कि साहित्यिक नाटकों में भी इनका प्रयोग बोलियों के रूप में ही देखा जाता है और यही कारण है कि मृच्छकटिक जैसे नाटक में अनेक प्राकृतों का प्रयोग हुआ है, उसके विभिन्न पात्र भिन्न-भिन्न प्राकृतें बोलते हैं। इन विभिन्न प्राकृतों में से अधिकांश का अस्तित्व मात्र बोली के रूप में ही रहा, जिनके निदर्शन केवल नाटकों और अभिलेखों में पाये जाते हैं। मात्र अर्द्धमागधी,

जैन-शौरसेनी और जैन-महाराष्ट्री ही ऐसी भाषायें हैं, जिनमें जैनधर्म के विपुल साहित्य का सृजन हुआ है। पैशाची प्राकृत के प्रभाव से युक्त मात्र एक ग्रन्थ प्राकृत धम्मपद मिला है। इन्हीं जन-बोलियों को जब एक साहित्यिक भाषा का रूप देने का प्रयत्न जैनाचार्यों ने किया, तो उसमें भी आधारगत विभिन्नता के कारण शब्द रूपों की विभिन्नता रह गई। सत्य तो यह है कि विभिन्न बोलियों पर आधारित होने के कारण साहित्यिक प्राकृतों में भी शब्द रूपों की यह विविधता रह जाना स्वाभाविक है।

विभिन्न बोलियों की लक्षणगत, विशेषताओं के कारण ही प्राकृत भाषाओं के विविध रूप बने हैं। बोलियों के आधार पर विकसित इन प्राकृतों के जो मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि रूप बने हैं, उनमें भी प्रत्येक में वैकल्पिक शब्द रूप पाये जाते हैं। अतः उन सभी में व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण एकरूपता का अभाव है। फिर भी भाषाविदों ने व्याकरण के नियमों के आधार पर उनकी कुछ लक्षणगत विशेषताएँ मान ली हैं। जैसे मागधी में "स" के स्थान पर "श", "र" के स्थान पर "ल" का उच्चारण होता है। अतः मागधी में "पुरुष" का "पुलिश" और "राजा" का "लाजा" रूप पाया जाता है, जबकि महाराष्ट्री में "पुरिस" और "राया" रूप बनता है। जहाँ अर्द्धमागधी में "त" श्रुति की प्रधानता है और व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति अल्प है, वहीं शौरसेनी में "द" श्रुति की और महाराष्ट्री में "य" श्रुति की प्रधानता पायी जाती है तथा लोप की प्रवृत्ति अधिक है। दूसरे शब्दों में अर्द्धमागधी में "त" यथावत रहता है, शौरसेनी में "त" के स्थान पर "द" और महाराष्ट्री में लुप्त-व्यंजन के बाद शेष रहे "अ" का "य" होता है प्राकृतों में इन लक्षणगत विशेषताओं के बावजूद भी धातु रूपों एवं शब्द रूपों में अनेक वैकल्पिक रूप तो पाये ही जाते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतों की अपेक्षा जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त इन प्राकृत भाषाओं का रूप कुछ भिन्न है और किसी सीमा तक उनमें लक्षणगत बहुरूपता भी है। इसीलिए जैन आगमों में प्रयुक्त मागधी को अर्द्धमागधी कहा जाता है, क्योंकि उसमें मागधी के अतिरिक्त अन्य बोलियों के प्रभाव के कारण मागधी से भिन्न लक्षण भी पाये जाते हैं। जहाँ अभिलेखीय प्राकृतों का प्रश्न है उनमें शब्द रूपों की इतनी अधिक विविधता या भिन्नता है कि उन्हें व्याकरण की दृष्टि से व्याख्यायित कर पाना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि उनकी प्राकृत साहित्यिक प्राकृत न होकर स्थानीय बोलियों पर आधारित हैं।

यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह जैन-शौरसेनी कही जाती है। उसे जैन-शौरसेनी इसलिये कहते हैं कि उसमें शौरसेनी के अतिरिक्त अर्द्धमागधी के भी कुछ लक्षण पाये जाते हैं। उस पर अर्द्धमागधी -- का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। क्योंकि इसमें रचित ग्रन्थों का आधार अर्द्धमागधी आगम ही थे। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों ने प्राकृत के जिस भाषायी रूप को अपनाया वह जैन-महाराष्ट्री कही जाती है। इसमें महाराष्ट्री के लक्षणों के अतिरिक्त कहीं-कहीं अर्द्धमागधी और शौरसेनी के लक्षण भी पाये जाते हैं, क्योंकि इसमें रचित ग्रन्थों का आधार भी मुख्यतः अर्द्धमागधी और अंशतः शौरसेनी साहित्य रहा है।

अतः जैन परम्परा में उपलब्ध किसी भी ग्रन्थ की प्राकृत का स्वरूप निश्चित करना एक

कठिन कार्य है, क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता, जो विशुद्ध रूप से किसी एक प्राकृत का प्रतिनिधित्व करता हो। आज उपलब्ध विभिन्न श्वेताम्बर अर्द्धमागधी आगमों में चाहे प्रतिशतों में कुछ भिन्नता हो, किन्तु व्यापक रूप से महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। आचारांग और ऋषिभाषित जैसे प्राचीन स्तर के आगमों में अर्द्धमागधी के लक्षण प्रमुख होते हुए भी कहीं-कहीं आंशिक रूप से शौरसेनी का एवं विशेषरूप से महाराष्ट्री का प्रभाव आ ही गया है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के शौरसेनी ग्रन्थों में एक ओर अर्द्धमागधी का तो दूसरी ओर महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनमें लगभग 60 प्रतिशत शौरसेनी एवं 40 प्रतिशत महाराष्ट्री पायी जाती है -- जैसे वसुनन्दी के श्रावकाचार का प्रथम संस्करण, ज्ञातव्य है कि परवर्ती संस्करणों में शौरसेनीकरण अधिक लिया गया है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र महाराष्ट्री का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है। इन सब विभिन्न भाषिक रूपों के पारस्परिक प्रभाव या मिश्रण के अतिरिक्त मुझे अपने अध्ययन के दौरान एक महत्त्वपूर्ण बात यह मिली कि जहाँ शौरसेनी ग्रन्थों में जब अर्द्धमागधी आगमों के उद्धरण दिये गये, तो वहाँ उन्हें अपने अर्द्धमागधी रूप में न देकर उनका शौरसेनी रूपान्तरण करके दिया गया है। इसी प्रकार महाराष्ट्री के ग्रन्थों में अथवा श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों में जब भी शौरसेनी के ग्रन्थ का उद्धरण दिया गया, तो सामान्यतया उसे मूल शौरसेनी में न रखकर उसका महाराष्ट्री रूपान्तरण कर दिया गया। उदाहरण के रूप में भगवतीआराधना की टीका में जो उत्तराध्ययन, आचारांग आदि के उद्धरण पाये जाते हैं, वे उनके अर्द्धमागधी रूप में न होकर शौरसेनी रूप में ही मिलते हैं। इसी प्रकार हरिभद्र ने शौरसेनी प्राकृत के "यापनीय-तन्त्र" नामक ग्रन्थ से "ललितविस्तरा" में जो उद्धरण दिया, वह महाराष्ट्री प्राकृत में ही पाया जाता है।

इस प्रकार चाहे अर्द्धमागधी आगम हो या शौरसेनी आगम, उनके उपलब्ध संस्करणों की भाषा न तो पूर्णतः अर्द्धमागधी है और न ही शौरसेनी। अर्द्धमागधी और शौरसेनी दोनों ही प्रकार के आगमों पर महाराष्ट्री का व्यापक प्रभाव देखा जाता है जो कि इन दोनों की अपेक्षा परवर्ती है। इसी प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत के कुछ ग्रन्थों पर परवर्ती अपभ्रंश का भी प्रभाव देखा जाता है। इन आगमों अथवा आगम तुल्य ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप की विविधता के कारण उनके कालक्रम तथा पारस्परिक आदान-प्रदान को समझने में विद्वानों को पर्याप्त उलझनों का अनुभव होता है, मात्र इतना ही नहीं कभी-कभी इन प्रभावों के कारण इन ग्रन्थों को परवर्ती भी सिद्ध कर दिया जाता है।

आज आगमिक साहित्य के भाषिक स्वरूप की विविधता को दूर करने तथा उन्हें अपने मूल स्वरूप में स्थिर करने के कुछ प्रयत्न भी प्रारम्भ हुए हैं। सर्वप्रथम डॉ. के. ऋषभचन्द्र ने प्राचीन अर्द्धमागधी आगम जैसे -- आचारांग, सूत्रकृतांग में आये महाराष्ट्री के प्रभाव को दूर करने एवं उन्हें अपने मूल स्वरूप में लाने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया है। क्योंकि एक ही अध्याय या उद्देशक में "ल्योय" और "लोग" या "आया" और "आता" दोनों ही रूप देखे जाते हैं। इसी प्रकार कहीं क्रिया रूपों में भी "त" श्रुति उपलब्ध होती है और कहीं उसके लोप की प्रवृत्ति

देखी जाती है। प्राचीन आगमों में हुए इन भाषिक परिवर्तनों से उनके अर्थ में भी कितनी विकृति आयी, इसका भी डॉ. चन्द्रा ने अपने लेखों के माध्यम से संकेत किया है तथा यह बताया है कि अर्द्धमागधी "खेतन्न" शब्द किस प्रकार "खेयन्न" बन गया और उसका जो मूल "क्षेत्रन्न" अर्थ था वह बदलकर "खेदन्न" हो गया। इन सब कारणों से उन्होंने पाठ संशोधन हेतु एक योजना प्रस्तुत की और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक की भाषा का सम्पादन कर उसे प्रकाशित भी किया है। इसी क्रम में मैंने भी आगम संस्थान उदयपुर के डॉ. सुभाष कोठारी एवं डॉ. सुरेश सिसोदिया द्वारा आचारांग के विभिन्न प्रकाशित संस्करणों से पाठान्तरों का संकलन करवाया है। इसके विरोध में पहला स्वर श्री जौहरीमल जी पारख ने उठाया है। श्वेताम्बर विद्वानों में आयी इस चेतना का प्रभाव दिगम्बर विद्वानों पर भी पड़ा और आचार्य श्री विद्यानन्द जी के निर्देशन में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पूर्णतः शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक प्रयत्न प्रारम्भ हुआ है, इस दिशा में प्रथम कार्य बलभद्र जैन द्वारा सम्पादित समयसार, नियमसार आदि का कुन्दकुन्द भारती से प्रकाशन है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में ही पं. खुशालचन्द्र गौरावाला, पद्मचन्द्र शास्त्री आदि दिगम्बर विद्वानों ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया।

आज श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं में आगम या आगम रूप में मान्य ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप के पुनः संशोधन की जो चेतना जागृत हुई है, उसका कितना औचित्य है, इसकी चर्चा तो मैं बाद में करूँगा। सर्वप्रथम तो इसे समझना आवश्यक है कि इन प्राकृत आगम ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में किन कारणों से और किस प्रकार के परिवर्तन आयी हैं। क्योंकि इस तथ्य को पूर्णतः समझे बिना केवल एक-दूसरे के अनुकरण के आधार पर अथवा अपनी परम्परा को प्राचीन सिद्ध करने हेतु किसी ग्रन्थ के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन कर देना सम्भवतः इन ग्रन्थों के ऐतिहासिक क्रम एवं काल निर्णय एवं इनके पारस्परिक प्रभाव को समझने में बाधा उत्पन्न करेगा और इससे कई प्रकार के अन्य अनर्थ भी सम्भव हो सकते हैं।

किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि जैनाचार्यों एवं जैन विद्वानों ने अपने भाषिक व्यामोह के कारण अथवा प्रचलित भाषा के शब्द रूपों के आधार पर प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन किया है। जैन आगमों की वाचना को लेकर जो मान्यताएँ प्रचलित हैं, उनके अनुसार सर्वप्रथम ई.पू. तीसरी शती में वीर निर्वाण के लगभग एक सौ पचास वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में प्रथम वाचना हुई। इसमें उस काल तक निर्मित आगम ग्रन्थों, विशेषतः अंग आगमों का सम्पादन किया गया। यह स्पष्ट है कि पटना की यह वाचना मगध में हुई थी और इसलिए इसमें आगमों की भाषा का जो स्वरूप निर्धारित हुआ होगा, वह निश्चित ही मागधी रहा होगा। इसके पश्चात् लगभग ई.पू. प्रथम शती में खारवेल के शासन काल में उड़ीसा में द्वितीय वाचना हुई यहाँ पर इसका स्वरूप अर्द्धमागधी रहा होगा, किन्तु इसके लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् स्कंदिल और आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में क्रमशः मथुरा व वलभी में वाचनाएँ हुईं। सम्भव है कि मथुरा में हुई इस वाचना में अर्द्धमागधी आगमों पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आया होगा। वलभी के वाचना वाले आगमों में नागार्जुनीय पाठों के तो

उल्लेख मिलते हैं, किन्तु स्कंदिल की वाचना के पाठ भेदों का कोई निर्देश नहीं है। स्कंदिल की वाचना सम्बन्धी पाठभेदों का यह अनुल्लेख विचारणीय है। नन्दीसूत्र में स्कंदिल के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उनके अनुयोग (आगम-पाठ) ही दक्षिण भारत क्षेत्र में आज भी प्रचलित हैं। सम्भवतः यह संकेत यापनीय आगमों के सम्बन्ध में होगा। यापनीय परम्परा जिन आगमों को मान्य कर रही थी, उसमें व्यापक रूप से भाषिक परिवर्तन किया गया था और उन्हें शौरसेनी रूप दे दिया गया था। यद्यपि आज प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से यह बता पाना कठिन है कि यापनीय आगमों की भाषा का स्वरूप क्या था, क्योंकि यापनीयों द्वारा मान्य और व्याख्यायित वे आगम उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि अपराजित के द्वारा दशवैकालिक पर टीका लिखे जाने का निर्देश प्राप्त होता है, किन्तु वह टीका भी आज प्राप्त नहीं है। अतः यह कहना तो कठिन है कि यापनीय आगमों की भाषा कितनी अर्द्धमागधी थी और कितनी शौरसेनी। किन्तु इतना तय है कि यापनीयों ने अपने ग्रन्थों में आगमों, प्रकीर्णकों एवं नियुक्तियों की जिन गाथाओं को गृहीत किया है अथवा उद्धृत किया है वे सभी आज शौरसेनी रूपों में ही पायी जाती है। यद्यपि आज भी उन पर बहुत कुछ अर्द्धमागधी का प्रभाव शेष रह गया है। चाहे यापनीयों ने सम्पूर्ण आगमों के भाषाई स्वरूप को अर्द्धमागधी से शौरसेनी में रूपान्तरित किया हो या नहीं, किन्तु उन्होंने आगम साहित्य से जो गाथाएँ उद्धृत की हैं, वे अधिकांशतः आज अपने शौरसेनी स्वरूप में पायी जाती हैं। यापनीय आगमों के भाषिक स्वरूप में यह परिवर्तन जानबूझकर किया या जब मथुरा जैनधर्म का केन्द्र बना तब सहज रूप में यह परिवर्तन आ गया था, यह कहना कठिन है। जैनधर्म सदैव से क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाता रहा और यही कारण हो सकता है कि श्रुत-परम्परा से चली आयी इन गाथाओं में या तो सहज ही क्षेत्रीय प्रभाव आया हो या फिर उस क्षेत्र की भाषा को ध्यान में रखकर उसे उस रूप में परिवर्तित किया गया हो।

यह भी सत्य है कि बलमी में जो देवधिगणि की अष्टयक्षता में वी. नि. सं. 980 या 993 में अन्तिम वाचना हुई, उसमें क्षेत्रगत महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव जैन आगमों पर विशेषरूप से आया होगा, यही कारण है कि वर्तमान में श्वेताम्बर मान्य अर्द्धमागधी आगमों की भाषा का जो स्वरूप उपलब्ध है, उस पर महाराष्ट्री का प्रभाव ही अधिक है। अर्द्धमागधी आगमों में भी उन आगमों की भाषा महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हुई है, जो अधिक व्यवहार या प्रचलन में रहे। उदाहरण के रूप में उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगम महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हैं। जबकि ऋषिभाषित जैसा आगम महाराष्ट्री के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहा है। उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव अत्यल्प है। आज अर्द्धमागधी का जो आगम साहित्य हमें उपलब्ध है, उसमें अर्द्धमागधी का सर्वाधिक प्रतिशत इसी ग्रन्थ में पाया जाता है।

जैन आगमिक एवं आगम रूप में मान्य अर्द्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं है, अपितु अनेक कारण हैं, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

1. भारत में जहाँ वैदिक परम्परा में वेद वचनों को मंत्र मानकर उनके स्वर-व्यंजन की

उच्चारण योजना को अपरिवर्तनीय बनाये रखने पर अधिक बल दिया गया, उनके लिये शब्द और ध्वनि ही महत्त्वपूर्ण रही और अर्थ गौण। आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेद मंत्रों के उच्चारण, लय आदि के प्रति अत्यन्त सतर्क रहते हैं, किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्द रूप में यथावत् बने रहे। इसके विपरीत जैन परम्परा में यह माना गया कि तीर्थंकर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं उनके वचनों को शब्द रूप तो गणधर आदि के द्वारा दिया जाता है। जैनाचार्यों के लिये कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था, उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया। शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाय, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिये, यही जैन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा। शब्द रूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गये।

2. आगम साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए, उसका दूसरा कारण यह था कि जैनभिक्षु संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षुगण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती, फलतः आगम साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नताएँ आ गयीं।

3. जैनभिक्षु सामान्यतया भ्रमणशील होते हैं, उनकी भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर भी अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव पड़ता ही है। फलतः आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन या मिश्रण हो गया। उदाहरण के रूप में जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रदेशों में अधिक बिहार करता है तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही बोलियों का प्रभाव आ ही जाता है। अतः भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो जाती है।

4. सामान्यतया बुद्ध वचन बुद्ध निर्वाण के 200-300 वर्ष के अन्दर ही अन्दर लिखित रूप में आ गए। अतः उनके भाषिक स्वरूप में उनके रचनाकाल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया, तथापि उनकी उच्चारण शैली विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रही और वह आज भी है। थाई, बर्मा, और श्रीलंका के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है, फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घकाल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरुशिष्य परम्परा से मौखिक ही चलता रहा फलतः देशकालगत उच्चारण भेद से उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया।

भारत में कागज का प्रचलन न होने से ग्रन्थ भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर लिखे जाते थे। ताड़पत्रों पर ग्रन्थों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन मुनियों की अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई. सन् की 5वीं शती तक इस कार्य को पाप-प्रवृत्ति माना जाता तथा इसके लिए दण्ड की व्यवस्था भी थी। फलतः महावीर के पश्चात् लगभग 1000 वर्ष तक जैन साहित्य श्रुत-परम्परा पर ही आधारित रहा। श्रुत-परम्परा के आधार पर आगमों के भाषिक स्वरूप को सुरक्षित रखना कठिन था। अतः उच्चारण शैली का भेद आगमों के भाषिक स्वरूप के परिवर्तन का कारण बन गया।

5. आगमिक एवं आगम-तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो परिवर्तन देखा जाता है, उसका एक कारण लहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र के होते थे, उन पर भी उस क्षेत्र की बोली/भाषा का प्रभाव रहता था और असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्द रूपों को लिख देता था। उदाहरण के रूप में चाहे मूल-पाठ में "गच्छति" लिखा हो लेकिन प्रचलन में "गच्छई" का व्यवहार है, तो प्रतिलिपिकार "गच्छई" रूप ही लिख देगा।

6. जैन आगम एवं आगम तुल्य ग्रन्थ में आये भाषिक परिवर्तनों का एक कारण यह भी है कि वे विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में सम्पादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया अपितु उन्हें सम्पादित करते समय अपने युग एवं क्षेत्र के प्रचलित भाषायी स्वरूप के आधार पर उनमें परिवर्तन कर दिया। यही कारण है कि अर्द्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं सम्पादित हुए तो उनके भाषिक स्वरूप अर्द्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया, और जब बलभी में लिखे गये तो वह महाराष्ट्री से प्रभावित हो गया। यह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप में न हो सका और उसमें अर्द्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे।

सम्पादन और प्रतिलिपि करते समय भाषिक स्वरूप की एकरूपता पर विशेष बल नहीं दिए जाने के कारण जैन आगम एवं आगमतुल्य साहित्य अर्द्धमागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री की खिचड़ी ही बन गया और विद्वानों ने उनकी भाषा को जैन-शौरसेनी और जैन-महाराष्ट्री ऐसे नाम दे दिये। न प्राचीन संकलन कर्त्ताओं ने उस पर ध्यान दिया और न आधुनिक काल के सम्पादकों, प्रकाशकों में इस तथ्य पर ध्यान दिया गया। परिणामतः एक ही आगम के एक ही विभाग में "लोक", "लोग", "लोअ" और "लोय" ऐसे चारों ही रूप देखने को मिल जाते हैं।

यद्यपि सामान्य रूप से तो इन भाषिक रूपों के परिवर्तनों के कारण कोई बहुत बड़ा अर्थ-भेद नहीं होता है, किन्तु कभी-कभी इनके कारण भयंकर अर्थ-भेद भी हो जाता है। इस सन्दर्भ में एक दो उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करना चाहूँगा। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का प्राचीन पाठ "रामपुत्ते" बदलकर चूर्णि में "रामाउत्ते" हो गया, किन्तु वही पाठ सूत्रकृतांग की शीलांक की टीका में "रामगुत्ते" हो गया। इस प्रकार जो शब्द रामपुत्र का वाचक था, वह रामगुप्त का वाचक हो गया। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने उसे गुप्तशासक रामगुप्त मान लिया है और उसके द्वारा प्रतिष्ठापित विदिशा की जिन मूर्तियों के अभिलेखों से उसकी पुष्टि भी कर दी। जबकि वस्तुतः वह निर्देश बुद्ध के समकालीन रामपुत्र नामक श्रमण आचार्य के सम्बन्ध में था, जो ध्यान एवं योग के महान साधक थे और जिनसे स्वयं भगवान बुद्ध ने ध्यान प्रक्रिया सीखी थी। उनसे सम्बन्धित एक अध्ययन ऋषिभाषित में आज भी है, जबकि अंतकृत-दशा में उनसे सम्बन्धित जो अध्ययन था, वह आज विलुप्त हो चुका है। इसकी विस्तृत चर्चा Aspects of Jainology Vol. II में मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में की है। इसी प्रकार आचारांग एवं सूत्रकृतांग में प्रयुक्त "खेत्तन्न" शब्द, जो "क्षेत्रज्ञ" (आत्मज्ञ) का

वाची था, महाराष्ट्री के प्रभाव से आगे चलकर "खेयण्ण" बन गया और उसे "खेदञ्ज" का वाची मान लिया गया। इसकी चर्चा प्रो. के.आर. चन्द्रा ने श्रमण 1992 में प्रकाशित अपने लेख में की है। अतः स्पष्ट है कि इन परिवर्तनों के कारण अनेक स्थलों पर बहुत अधिक अर्थभेद भी हो गये हैं। आज वैज्ञानिक रूप से सम्पादन की जो शैली विकसित हुई है उसके माध्यम से इन समस्याओं के समाधान की अपेक्षा है। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया था कि आगमिक एवं आगम तुल्य ग्रन्थों के प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने के लिए श्वेताम्बर परम्परा में प्रो. के.आर. चन्द्रा और दिगम्बर परम्परा में आचार्य श्री विद्यानन्द जी के सान्निध्य में श्री बलभद्र जैन ने प्रयत्न प्रारम्भ किया है। किन्तु इन प्रयत्नों का कितना औचित्य है और इस सन्दर्भ में किन-किन सावधानियों की आवश्यकता है, यह भी विचारणीय है। यदि प्राचीन रूपों को स्थिर करने का यह प्रयत्न सम्पूर्ण सावधानी और ईमानदारी से न हुआ, तो इसके दुष्परिणाम भी हो सकते हैं।

प्रथमतः प्राकृत के विभिन्न भाषिक रूप लिये हुए इन ग्रन्थों में पारस्परिक प्रभाव और पारस्परिक अवदान को अर्थात् किसने किस परम्परा से क्या लिया है, इसे समझने के लिए आज जो सुविधा है, वह इनमें भाषिक एकरूपता लाने पर समाप्त हो जायेगी। आज नमस्कार मंत्र में "नमो" और "णमो" शब्द का जो विवाद है, उसका समाधान और कौन शब्दरूप प्राचीन है इसका निश्चय, हम खारवेल और मथुरा के अभिलेखों के आधार पर कर सकते हैं और यह कह सकते हैं कि अर्द्धमागधी का "नमो" रूप प्राचीन है, जबकि शौरसेनी और महाराष्ट्री का "णमो" रूप परवर्ती है। क्योंकि ई. की दूसरी शती तक अभिलेखों में कहीं भी "णमो" रूप नहीं मिलता। जबकि छठी शती से दक्षिण भारत के जैन अभिलेखों में "णमो" रूप बहुतायत से मिलता है। इससे फलित यह निकलता है कि णमो रूप परवर्ती है और जिन ग्रन्थों ने "न" के स्थान पर "ण" की बहुलता है, वे ग्रन्थ भी परवर्ती हैं। यह सत्य है कि "नमो" से परिवर्तित होकर ही "णमो" रूप बना है। जिन अभिलेखों में "णमो" रूप मिलता है वे सभी ई. सन् की चौथी शती के बाद के ही हैं। इसी प्रकार से नमस्कार मंत्र की अन्तिम गाथा में -- एसो पंघ नमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मंगलाण च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं -- ऐसा पाठ है। इनमें प्रयुक्त प्रथमाविभक्ति में "एकार" के स्थान पर "ओकार" का प्रयोग तथा "हवति" के स्थान "हवइ" शब्द रूप का प्रयोग यह बताता है कि इसकी रचना अर्द्धमागधी से महाराष्ट्री के संक्रमणकाल के बीच की है और यह अंश नमस्कार मंत्र में बाद में जोड़ा गया है। इसमें शौरसेनी रूप "होदि" या "हवदि" के स्थान पर महाराष्ट्री शब्द रूप "हवई" है जो यह बताता है -- यह अंश मूलतः महाराष्ट्री में निर्मित हुआ था और वही से ही शौरसेनी में लिया गया है।

इसी प्रकार शौरसेनी आगमों में भी इसके "हवई" शब्द रूप की उपस्थिति भी यही सूचित करती है कि उन्होंने इस अंश को परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थों से ही ग्रहण किया गया है। अन्यथा वहाँ मूल शौरसेनी का "हवदि" या "होदि" रूप ही होना था। आज यदि किसी को शौरसेनी का अधिक आग्रह हो, तो क्या वे नमस्कार मंत्र के इस "हवई" शब्द को "हवदि" या "होदि" रूप में परिवर्तित कर देंगे ? जबकि तीसरी-चौथी शती से आज तक कहीं भी "हवइ"



के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द-रूप उपलब्ध नहीं है।

प्राकृत के भाषिक स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह है कि प्राकृत का मूल आधार क्षेत्रीय बोलियाँ होने से उसके एक ही काल में विभिन्न रूप रहे हैं। प्राकृत व्याकरण में जो "बहुल" शब्द है वह स्वयं इस बात का सूचक है कि चाहे शब्द रूप हो, चाहे धातु रूप हो, या उपसर्ग आदि हो, उनकी बहुविधता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक बार हम मान भी लें कि एक क्षेत्रीय बोली में एक ही रूप रहा होगा, किन्तु चाहे वह शौरसेनी, अर्द्धमागधी या महाराष्ट्री प्राकृत हो, साहित्यिक भाषा के रूप में इनके विकास के मूल में विविध बोलियाँ रहीं हैं। अतः भाषिक एकरूपता का प्रयत्न प्राकृत की अपनी मूल प्रकृति की दृष्टि से कितना समीचीन होगा, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

पुनः चाहे हम एक बार यह मान भी लें कि प्राचीन अर्द्धमागधी का जो भी साहित्यिक रूप रहा वह बहुविध नहीं था और उसमें व्यंजनों के लोप, उनके स्थान पर "अ" या "य" की उपस्थिति अथवा "न" के स्थान पर "ण" की प्रवृत्ति नहीं रही होगी और इस आधार पर आचारांग आदि की भाषा का अर्द्धमागधी स्वरूप स्थिर करने का प्रयत्न उचित भी मान लिया जाये, किन्तु यह भी सत्य है कि जैन परम्परा में शौरसेनी का आगम तुल्य साहित्य मूलतः अर्द्धमागधी आगमसाहित्य के आधार पर और उससे ही विकसित हुआ, अतः उसमें जो अर्द्धमागधी या महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है, उसे पूर्णतः निकाल देना क्या उचित होगा ? यदि हमने यह दुःसाहस किया भी तो उससे ग्रन्थों के काल निर्धारण आदि में और उनकी पारस्परिक प्रभावकता को समझने में, आज जो सुगमता है, वह नष्ट हो जायेगी।

यही स्थिति महाराष्ट्री प्राकृत की भी है। उसका आधार भी अर्द्धमागधी और अंशतः शौरसेनी आगम रहे हैं यदि उनके प्रभाव को निकालने का प्रयत्न किया गया तो वह भी उचित नहीं होगा। खेयण का प्राचीन रूप खेतन्न है। महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थ में एक बार खेतन्न रूप प्राप्त होता है तो उसे हम प्राचीन शब्द रूप मानकर रख सकते हैं, किन्तु अर्द्धमागधी के ग्रन्थ में "खेतन्न" रूप उपलब्ध होते हुए भी महाराष्ट्री रूप "खेयन्न" बनाये रखना उचित नहीं होगा। जहाँ तक अर्द्धमागधी आगम ग्रन्थों का प्रश्न है उन पर परवर्तीकाल में जो शौरसेनी या महाराष्ट्री प्राकृतों का प्रभाव आ गया है, उसे दूर करने का प्रयत्न किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है, किन्तु इस प्रयत्न में भी निम्न सावधानियाँ अपेक्षित हैं --

1. प्रथम तो यह कि यदि मूल हस्तप्रतियों में कहीं भी वह शब्द रूप नहीं मिलता है, तो उस शब्द रूप को किसी भी स्थिति में परिवर्तित न किया जाये। किन्तु प्राचीन अर्द्धमागधी शब्द रूप जो किसी भी मूल हस्तप्रति में एक दो स्थानों पर भी उपलब्ध होता है, उसे अन्यत्र परिवर्तित किया जा सकता है। यदि किसी अर्द्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थ में "लोग" एवं "लोय" दोनों रूप मिलते हों तो वहाँ अर्वाचीन रूप "लोय" को प्राचीन रूप "लोग" में रूपान्तरित किया जा सकता है किन्तु इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि यदि एक पूरा का पूरा गद्यांश या पद्यांश महाराष्ट्री में है और उसमें प्रयुक्त शब्दों के वैकल्पिक अर्द्धमागधी रूप किसी एक भी आदर्श के

प्रति में नहीं मिलते हैं तो उन अंशों को परिवर्तित न किया जाये, क्योंकि सम्भावना यह हो सकती है कि वह अंश परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुआ हो, अतः उस अंश के प्रक्षिप्त होने का आधार जो उसका भाषिक स्वरूप है, उसको बदलने से आगमिक शोध में बाधा उत्पन्न होगी। उदाहरण के रूप में आचारांग के प्रारम्भ में "सुयं मे अउसंतेण भगवया एयं अक्खाय" के अंश को ही लें, जो सामान्यतया सभी प्रतियों में इसी रूप में मिलता है। यदि हम इसे अर्द्धमागधी में रूपान्तरित करके "सुतं मे आउसन्तेण भगवता एवं अक्खाता" कर दें तो इसके प्रक्षिप्त होने की जो सम्भावना है वह समाप्त हो जायेगी। अतः प्राचीनस्तर के आगमों में किस अंश के भाषिक स्वरूप को बदला जा सकता है और किसको नहीं, इस पर गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है।

इसी सन्दर्भ में ऋषिभाषित के एक अन्य उदाहरण पर भी विचार कर सकते हैं। इसमें प्रत्येक ऋषि के कथन को प्रस्तुत करते हुए सामान्यतया यह गद्यांश मिलता है -- अरहता इसिणा बुइन्तं, किन्तु हम देखते हैं कि इसके 45 अध्यायों से 37 में "बुइन्तं" पाठ है, जबकि 7 में "बुइयं" पाठ है। ऐसी स्थिति में यदि इस "बुइयं" पाठ वाले अंश के आस-पास अन्य शब्दों के प्राचीन अर्द्धमागधी रूप मिलते हों तो "बुइयं" को बुइन्तं में बदला जा सकता है। किन्तु यदि किसी शब्द रूप के आगे-पीछे के शब्द रूप भी महाराष्ट्री प्रभाव वाले हों, तो फिर उसे बदलने के लिए हमें एक बार सोचना होगा।

कुछ स्थितियों में यह भी होता है कि ग्रन्थ की एक ही आदर्श प्रति उपलब्ध हो, ऐसी स्थिति में जब तक उनकी प्रतियाँ उपलब्ध न हो, तब तक उनके साथ छेड़-छाड़ करना उचित नहीं होगा। अतः अर्द्धमागधी या शौरसेनी के भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के किसी निर्णय से पूर्व सावधानी और बौद्धिक ईमानदारी की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में अन्तिम रूप से एक बात और निवेदन करना आवश्यक है, वह है कि यदि मूलपाठ में किसी प्रकार का परिवर्तन किया भी जाता है, तो भी इतना तो अवश्य ही करणीय होगा कि पाठान्तरों के रूप में अन्य उपलब्ध शब्द रूपों को भी अनिवार्य रूप से रखा जाय, साथ ही भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के लिए जो प्रति आधार रूप में मान्य की गयी हो उसकी मूल प्रति छाया को भी प्रकाशित किया जाय, क्योंकि छेड़-छाड़ के इस क्रम में जो साम्प्रदायिक आग्रह कार्य करेंगे, उससे ग्रन्थ की मौलिकता को पर्याप्त धक्का लगा सकता है।

आचार्य शान्तिसागरजी और उनके समर्थक कुछ दिगम्बर विद्वानों द्वारा षट्खण्डागम (1/1/93) में से "संजद" पाठ को हटाने की एवं श्वेताम्बर परम्परा में मुनि श्री फूलचन्द जी द्वारा परम्परा के विपरीत लगने वाले कुछ आगम के अंशों को हटाने की कहानी अभी हमारे सामने ताजा ही है। यह तो भाग्य ही था कि इस प्रकार के प्रयत्नों को दोनों ही समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार से सैद्धान्तिक संगति के नाम पर जो कुछ अनर्थ हो सकता था, उससे हम बच गये। किन्तु आज भी "षट्खण्डागम" के ताम्र पत्रों एवं प्रथम संस्करण की मुद्रित प्रतियों में संजद शब्द अनुपस्थित है, इसी प्रकार फूलचन्द जी द्वारा सम्पादित अंग-सुत्ताणि में कुछ आगम पाठों का जो विलोपन हुआ है वे प्रतियाँ तो भविष्य में

भी रहेगी, अतः भविष्य में तो यह सब निश्चय ही विवाद का कारण बनेगा। इसलिये ऐसे किसी भी प्रयत्न से पूर्व पूरी सावधानी एवं सजगता आवश्यक है। मात्र "संजद" पद हट जाने से उस ग्रन्थ के यापनीय होने की जो पहचान है, वही समाप्त हो जाती और जैन परम्परा के इतिहास के साथ अनर्थ हो जाता।

उपरोक्त समस्त चर्चा से मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि अर्द्धमागधी आगम एवं आगम तुल्य शौरसेनी ग्रन्थों के भाषायी स्वरूप की एकरूपता एवं उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने का कोई प्रयत्न ही न हो। मेरा दृष्टिकोण मात्र यह है कि उसमें विशेष सर्तकता की आवश्यकता है। साथ ही इस प्रयत्न का परिणाम यह न हो कि जो परवर्ती ग्रन्थ प्राचीन अर्द्धमागधी आगम साहित्य के आधार पर निर्मित हुए हैं, उनकी उस रूप में पहचान ही समाप्त कर दी जाये और इस प्रकार आज ग्रन्थों के पौर्वापर्य के निर्धारण का जो भाषायी आधार है वह भी नष्ट हो जाये। यदि प्रश्नव्याकरण, नन्दीसूत्र आदि परवर्ती आगमों की भाषा को प्राचीन अर्द्धमागधी में बदला गया अथवा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का या मूलाचार और भगवतीआराधना का पूर्ण शौरसेनीकरण किया गया तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि इससे उनकी पहचान और इतिहास ही नष्ट हो जायेगा।

जो लोग इस परिवर्तन के पूर्णतः विरोधी हैं उनसे भी मैं सहमत नहीं हूँ। मैं यह मानता हूँ आचारांग, ऋषिभाषित एवं सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगमों का इस दृष्टि से पुनः सम्पादन होना चाहिए। इस प्रक्रिया के विरोध में जो स्वर उभर कर सामने आये हैं उनमें जौहरीमलजी पारख का स्वर प्रमुख है। वे विद्वान् अध्येता और श्रद्धाशील दोनों ही हैं। फिर भी तुलसी-प्रज्ञा में उनका जो लेख प्रकाशित हुआ है उसमें उनका वैदुष्य श्रद्धा के अतिरेक में दब सा गया है। उनका सर्वप्रथम तर्क यह है कि आगम सर्वज्ञ के वचन हैं अतः उन पर व्याकरण के नियम थोपे नहीं जा सकते कि वे व्याकरण के नियमों के अनुसार ही बोलें। यह कोई तर्क नहीं मात्र उनकी श्रद्धा का अतिरेक ही है। प्रथम प्रश्न तो यही है कि क्या अर्द्धमागधी आगम अपने वर्तमान स्वरूप में सर्वज्ञ की वाणी है? क्या उनमें किसी प्रकार का विलोपन, प्रक्षेप या परिवर्तन नहीं हुआ है? यदि ऐसा है तो उनमें अनेक स्थलों पर अन्तर्विरोध क्यों है? कहीं लोकान्तिक देवों की संख्या आठ है तो कहीं नौ क्यों हैं? कहीं चार स्थावर और दो त्रस हैं, कहीं तीन त्रस और तीन स्थावर कहे गये, तो कहीं पाँच स्थावर और एक त्रस। यदि आगम शब्दशः महावीर की वाणी है, तो आगमों और विशेष रूप से अंग आगमों में महावीर के तीन सौ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए गणों के उल्लेख क्यों हैं? यदि कहा जाय कि भगवान् सर्वज्ञ थे और उन्होंने भविष्य की घटनाओं को जानकर यह उल्लेख किया तो प्रश्न यह कि वह कथन व्याकरण की दृष्टि से भविष्यकालिक भाषा रूप में होना था वह भूतकाल में क्यों कहा गया। क्या भगवती में गोशालक के प्रति जिस अशिष्ट शब्दावली का प्रयोग हुआ है क्या वह अंश वीतराग भगवान् महावीर की वाणी हो सकती है? क्या आज प्रश्नव्याकरणदशा, अन्तकृतदशा, अनुतरोपपातिकदशा और विपाकदशा की विषयवस्तु वही है, जो स्थानांक में उल्लिखित है? तथ्य यह है कि यह सब परिवर्तन हुआ है, आज हम उससे इंकार नहीं कर सकते हैं।

आज ऐसे अनेक तथ्य हैं, जो वर्तमान आगमसाहित्य को अक्षरशः सर्वज्ञ के वचन मानने में बाधक हैं। परम्परा के अनुसार भी सर्वज्ञ तो अर्थ (विषयवस्तु) के प्रवक्ता हैं -- शब्द रूप तो उनको गणधरों या परवर्ती स्थविरों द्वारा दिया गया है। क्या आज हमारे पास जो आगम हैं, वे ठीक वैसे ही हैं जैसे शब्द रूप से गणधर गौतम ने उन्हें रचा था ? आगम ग्रन्थों में परवर्तीकाल में जो विलोपन, परिवर्तन, परिवर्धन आदि हुआ और जिनका साक्ष्य स्वयं आगम ही दे रहे हैं, उससे क्या हम इन्कार कर सकते हैं ? स्वयं देवर्धि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है तो फिर हम नकारने वाले कौन होते हैं। आदरणीय पारखजी लिखते हैं-- "पण्डितों से हमारा यही आग्रह रहेगा कि कृपया बिना भेल-सेल के वही पाठ प्रदान करें जो तीर्थंकरों ने अर्थरूप में प्ररूपित और गणधरों ने सूत्ररूप में संकलित किया था। हमारे लिये वही शुद्ध है। सर्वज्ञों को जिस अक्षर, शब्द, पद, वाक्य या भाषा का प्रयोग अभिष्ट था, वह सूचित कर गये, अब उसमें असर्वज्ञ फेर बदल नहीं कर सकता।" उनके इस कथन के प्रति मेरा प्रथम प्रश्न तो यही है कि आज तक आगमों में जो परिवर्तन होता रहा वह किसने किया ? आज हमारे पास जो आगम हैं उनमें एकरूपता क्यों नहीं है ? आज मुर्शिदाबाद, हैदराबाद, बम्बई, लाहनु आदि के संस्करणों में इतना अधिक पाठ भेद क्यों है ? इनमें से हम किस संस्करण को सर्वज्ञ वचन माने और आपके शब्दों में किसे भेल-सेल कहें ? मेरा दूसरा प्रश्न यह है कि क्या आज पण्डित आगमों में कोई भेल-सेल कर रहे हैं या फिर वे उसके शुद्ध स्वरूप को सामने लाना चाहते हैं ? किसी भी पाश्चात्य संशोधक दृष्टि सम्पन्न विद्वान ने आगमों में कोई भेल-सेल किया ? इसका एक भी उदाहरण हो तो हमें बतायें। दुर्भाग्य यह है कि शुद्धि के प्रयत्न को भेल-सेल का नाम दिया जा रहा है और व्यर्थ में उसकी आलोचना की जा रही है। पुनः जहाँ तक मेरी जानकारी है डॉ. चन्द्रा ने एक भी ऐसा पाठ नहीं सुझाया है, जो आदर्श सम्मत नहीं है। उन्होंने मात्र यही प्रयत्न किया है कि जो भी प्राचीन शब्द रूप किसी भी एक आदर्शप्रत में एक-दो स्थानों पर भी मिल गये, उन्हें आधार मानकर अन्य स्थलों पर भी वही प्राचीन रूप रखने का प्रयास किया है। यदि उन्हें भेल-सेल करना होता तो वे इतने साहस के साथ पूज्य मुनिजनों एवं विद्वानों के विचार जानने के लिये उसे प्रसारित नहीं करते। फिर जब पारख जी स्वयं यह कहते हैं कि कुल 116 पाठभेदों में केवल 1 "आउसंतेण" को छोड़कर शेष 115 माठभेद ऐसे हैं कि जिनसे अर्थ में कोई फर्क नहीं पड़ता -- तो फिर उन्होंने ऐसा कौन सा अपराध कर दिया जिससे उनके श्रम की मूल्यवत्ता की स्वीकार करने के स्थान पर उसे नकारा जा रहा है? आज यदि आचारांग के लगभग 40 से अधिक संस्करण हैं-- और यह भी सत्य है कि सभी ने आदर्शों के आधार पर ही पाठ छापे हैं तो फिर किसे शुद्ध और किसे अशुद्ध कहें, क्या सभी को समान रूप से शुद्ध मान लिया जायेगा। क्या हम व्यावर, जैन विश्वभारती, लाहनु और महावीर विद्यालय वाले संस्करणों को समान महत्त्व का समझे ? भय भेल-सेल का नहीं है भय यह है कि अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध संस्करण के निकल जाने से पूर्व संस्करणों की सम्पादन में रही कमियाँ उजागर हो जाने का और यही खीज का मूल कारण प्रतीत होता है। पुनः क्या श्रद्धेय पारखजी यह बता सकते हैं कि कोई भी ऐसी आदर्श प्रति है, जो पूर्णतः शुद्ध है -- जब आदर्शों में भिन्नता और अशुद्धियाँ हैं, तो उन्हें दूर करने के लिये व्याकरण के अतिरिक्त विद्वान

किसका सहारा लेंगे ? क्या आज तक कोई भी आगम ग्रन्थ बिना व्याकरण का सहारा लिये मात्र आदर्श के आधार पर छपा है। प्रत्येक सम्पादक व्याकरण का सहारा लेकर ही आदर्श की अशुद्धि को ठीक करता है। यदि वे स्वयं यह मानते हैं कि आदर्शों में अशुद्धियाँ स्वाभाविक हैं, तो फिर उन्हें शुद्ध किस आधार पर किया जायेगा ? मैं भी यह मानता हूँ कि सम्पादन में आदर्श प्रति का आधार आवश्यक है किन्तु न तो मात्र आदर्श से और न मात्र व्याकरण के नियमों से समाधान होता है, उसमें दोनों का सहयोग आवश्यक है। मात्र यही नहीं अनेक प्रतों को सामने रखकर तुलना करके एवं विवेक से भी पाठ शुद्ध करना होता है। जैसा कि आचार्य श्री तुलसीजी ने मुनि श्री जम्बूविजयजी को अपनी सम्पादन शैली का स्पष्टीकरण करते हुए बताया था।

आदरणीय पारखजी एवं उनके द्वारा उद्धृत मुनि श्री जम्बूविजयजी का यह कथन कि आगमों में अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ प्रायः नहीं मिलते हैं। स्वयं ही यह बताता है कि क्वचित् तो मिलते हैं। पुनः इस सम्बन्ध में डॉ. चन्द्रा ने आगमोदय समिति के संस्करण, टीका तथा चूर्ण के संस्करणों से प्रमाण भी दिये हैं। वस्तुतः लेखन की सुविधा के कारण ही अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ आदर्शों में कम होते गये हैं। किन्तु लोकभाषा में वे आज भी जीवित हैं। अतः चन्द्रा जी के कार्य को प्रमाणरहित या आदर्शरहित कहना उचित नहीं है।

वर्तमान में उपलब्ध आगमों के संस्करणों में लाड़नू और महावीर विद्यालय के संस्करण अधिक प्रमाणिक माने जाते हैं, किन्तु उनमें भी "त" श्रुति और "य" श्रुति को लेकर या मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप सम्बन्धी जो वैविध्य हैं, वह न केवल आश्चर्यजनक हैं, अपितु विद्वानों के लिए चिन्तनीय भी हैं।

यहाँ महावीर विद्यालय से प्रकाशित स्थानांगसूत्र के ही एक दो उदाहरण आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ।

**घत्तारि वत्या पन्नत्ता, तज्रहा-सुती नामं एये सुती, सुई नामं एये असुई, घउभंगो।  
एवानेव घत्तारि पुरिसजाता पन्नत्ता, तंजहा सुती णामं एये सुती, घउभंगो।**

[ घतुर्थ स्थान, प्रथम उद्देशक, सूत्रक्रमांक 241, पृ. 94 ]

इस प्रकार यहाँ आप देखेंगे कि एक ही सूत्र में "सुती" और "सुई" दोनों रूप उपस्थित हैं। इससे मात्र शब्द-रूप में ही भेद नहीं होता है, अर्थ भेद भी हो सकता है, क्योंकि "सुती" का अर्थ है सूत से निर्मित, जबकि "सुई" (शुचि) का अर्थ है पवित्र। इस प्रकार इसी सूत्र में "णाम" और "नाम" दोनों शब्द रूप एक ही साथ उपस्थित हैं। इसी स्थानांगसूत्र से एक अन्य उदाहरण लीजिए -- सूत्र क्रमांक 445, पृ. 197 पर "निर्गन्थ" शब्द के लिए प्राकृत शब्दरूप "नियंठ" प्रयुक्त है तो सूत्र 446 में "निगंथ" और पाठान्तर में "नितंठ" रूप भी दिया गया है। इसी ग्रन्थ में सूत्र संख्या 458, पृ. 197 पर धम्मत्थिकात्, अधम्मत्थिकात् और आगासत्थिकाय -- इस प्रकार "काय" शब्द के दो भिन्न शब्द रूप काय और कात् दिये गये हैं। यद्यपि "त" श्रुति प्राचीन अर्द्धभागधी की पहचान है, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में सुती, नितंठ

और कातं में जो "त" का प्रयोग है वह मुझे परवर्ती लगता है। लगता है कि "य" श्रुति को "त" श्रुति में बदलने के प्रयत्न भी कालान्तर में हुए और इस प्रयत्न में बिना अर्थ का विचार किये "य" को "त" कर दिया गया है। शुचि का सुती, निर्यन्थ का नितंठ और काय का कातं किस प्राकृत व्याकरण के नियम से बनेगा, मेरी जानकारी में तो नहीं है। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक एक उदाहरण हमें हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित निर्युक्तिसंग्रह में ओघनिर्युक्त के प्रारम्भिक मंगल में मिलता है --

*नमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायणं, णमो लोए सव्वसाहूणं,  
एसो पंचवनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो । मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।। ।।*

यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ नमो अरिहंताणं में प्रारम्भ में "न" रखा गया जबकि णमो सिद्धाणं से लेकर शेष चार पदों में आदि का "न" "ण" कर दिया गया है। किन्तु "एसो पंचवनमुक्कारो" में पुनः "न" उपस्थित है। हम आदरणीय पारिखजी से इस बात में सहमत हो सकते हैं कि भिन्न कालों में भिन्न व्यक्तियों से चर्चा करते हुए प्राकृत भाषा के भिन्न शब्द रूपों का प्रयोग हो सकता है। किन्तु ग्रन्थ निर्माण के समय और वह भी एक ही सूत्र या वाक्यांश में दो भिन्न रूपों का प्रयोग तो कभी भी नहीं होगा। पुनः यदि हम यह मानते हैं कि आगम सर्वज्ञ वचन है, तो जब सामान्य व्यक्ति भी ऐसा नहीं करता है फिर सर्वज्ञ कैसे करेगा ? इस प्रकार की भिन्न रूपता के लिए लेखक नहीं, अपितु प्रतिलिपिकार ही उत्तरदायी होता है। अतः ऐसे पाठों का शुद्धीकरण अनुचित नहीं कहा जा सकता। एक ही सूत्र में "सुती" और "सुई", "नामं" और "णामं", "नियंठ" और "निगंथ", "कातं" और "कायं" ऐसे दो शब्द रूप नहीं हो सकते। उनका पाठ संशोधन आवश्यक है। यद्यपि इसमें भी यह सावधानी आवश्यक है कि "त" श्रुति की प्राचीनता के व्यामोह में कहीं सर्वत्र "य" का "त" नहीं कर दिया जावे जैसे शुचि-सुइ का "सुती", निगंथ का "नितंठ" अथवा काय का "कातं" पाठ महावीर विद्यालय वाले संस्करण में है। हम पारिखजी से इस बात में सहमत हैं कि कोई भी पाठ आदर्श में उपलब्ध हुए बिना नहीं बदला जाय, किन्तु "आदर्श" में उपलब्ध होने का यह अर्थ नहीं है कि "सर्वत्र" और सभी "आदर्शों" में उपलब्ध हो। हाँ यदि आदर्शों या आदर्श के अंश में प्राचीन पाठ मात्र एक दो स्थलों पर ही मिले और उनका प्रतिशत 20 से भी कम हो तो वहाँ उन्हें प्रायः न बदला जाय। किन्तु यदि उनका प्रतिशत 20 से अधिक हो तो उन्हें बदला जा सकता है -- शर्त यही हो कि आगम का वह अंश परवर्ती या प्रक्षिप्त न हो -- जैसे आचारांग का दूसरा श्रुतस्कन्ध या प्रश्नव्याकरण। किन्तु एक ही सूत्र में यदि इस प्रकार के भिन्न रूप आते हैं तो एक स्थल पर भी प्राचीन रूप मिलने पर अन्यत्र उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है।

पाठ शुद्धिकरण में दूसरी सावधानी यह आवश्यक है कि आगमों में कहीं-कहीं प्रक्षिप्त अंश है अथवा संग्रहणीयों और निर्युक्तियों की अनेकों गाथाएँ भी अवतरित की गयीं, ऐसे स्थलों पर पाठ-शुद्धिकरण करते समय प्राचीन रूपों की उपेक्षा करना होगा और आदर्श में उपलब्ध पाठ को परवर्ती होते हुए भी यथावत रखना होगा।

इस तथ्य को हम इस प्रकार भी समझा सकते हैं कि यदि एक अध्ययन, उद्देशक या एक पैराग्राफ में यदि 70 या 80 प्रतिशत प्रयोग महाराष्ट्री या "य" श्रुति के हैं और मात्र 10 प्रतिशत प्रयोग प्राचीन अर्द्धमागधी के हैं तो वहाँ पाठ के महाराष्ट्री रूप को रखना ही उचित होगा। सम्भव है कि वह प्रक्षिप्त रूप हो, किन्तु इसके विपरीत उनमें 60 प्रतिशत प्राचीन रूप हैं और 40 प्रतिशत अर्वाचीन महाराष्ट्री के रूप हैं, तो वहाँ प्राचीन रूप रखे जा सकते हैं।

पुनः आगम संपादन और पाठ शुद्धीकरण के इस उपक्रम में दिये जाने वाले मूलपाठ को शुद्ध एवं प्राचीन रूप में दिया जाय, किन्तु पाद टिप्पणियों में सम्पूर्ण पाठान्तरों का संग्रह किया जाय। इसका लाभ यह होगा कि कालान्तर में यदि कोई संशोधन कार्य करे तो उसमें सुविधा हो।

अन्त में मैं यह कहना चाहूँगा कि प्रो. के. आर. चन्द्रा अपनी अनेक सीमाओं के बावजूद भी जो यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और श्रमसाध्य कार्य कर रहे हैं, उसकी मात्र आलोचना करना कथापि उचित नहीं है, क्योंकि वे जो कार्य कर रहे हैं वह न केवल करणीय हैं बल्कि एक सही दिशा देने वाला कार्य है। हम उन्हें सुझाव तो दे सकते हैं, लेकिन अनधिकृत रूप से येन-केन प्रकारेण सर्वज्ञ और शास्त्र-श्रद्धा की दुहाई देकर उनकी आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं रखते। क्योंकि वे जो भी कार्य कर रहे हैं वह बौद्धिक ईमानदारी के साथ, निर्लिप्त भाव से तथा सम्प्रदायगत आग्रहों से ऊपर उठकर कर रहे हैं, उनकी नियत में भी कोई शंका नहीं की जा सकती। अतः मैं जैन विद्या के विद्वानों से नम्र निवेदन करूँगा कि वे शान्तचित्त से उनके प्रयत्नों की मूल्यवत्ता को समझें और अपने सुझावों एवं सहयोग से उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित करें।

# भगवान महावीर की निर्वाण तिथि पर पुनर्विचार

- प्रो. सागरमल जैन

सामान्यतया जैन लेखकों ने अपनी काल गणना को शक संवत् से समीकृत करके यह माना है कि महावीर के निर्वाण के 605 वर्ष और पाँच माह पश्चात् शक राजा हुआ।<sup>1</sup> इसी मान्यता के आधार पर वर्तमान में भी महावीर का निर्वाण ई.पू. 527 माना जाता है। आधुनिक जैन लेखकों में दिगम्बर परम्परा के पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार<sup>2</sup> एवं श्वेताम्बर परम्परा के मुनि श्री कल्याण विजयजी<sup>3</sup> आदि ने भी वीरनिर्वाण ई.पू. 527 वर्ष में माना है। लगभग 7वीं शती से कुछ अपवादों के साथ इस तिथि को मान्यता प्राप्त है। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम "तित्योगाली"<sup>4</sup> नामक प्रकीर्णक में और दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम "तिलोयपण्णत्ति"<sup>5</sup> में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि महावीर के निर्वाण के 605 वर्ष एवं 5 माह के पश्चात् शक नृप हुआ। ये दोनों ग्रन्थ ईसा की 6-7वीं शती में निर्मित हुए हैं। इसके पूर्व किसी भी ग्रन्थ में महावीर के निर्वाणकाल को शक सम्वत् से समीकृत करके उनके अन्तर को स्पष्ट किया गया हो -- यह मेरी जानकारी में नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि लगभग 6-7वीं शती से ही महावीरनिर्वाण शक पूर्व 605 में हुआ था, यह एक सामान्य अवधारणा रही है। इसके पूर्व कल्पसूत्र की स्थविरावली और नन्दीसूत्र की वाचक वंशावली में महावीर की पट्टपरम्परा का उल्लेख तो है, किन्तु इनमें आचार्यों के कालक्रम की कोई चर्चा नहीं है। अतः इनके आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि को निश्चित करना एक कठिन समस्या है। कल्पसूत्र में यह तो उल्लेख मिलता है कि अब वीरनिर्वाण के 980 वर्ष वाचनान्तर से 993 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।<sup>6</sup> इससे इतना ही फलित होता है कि वीरनिर्वाण के 980 या 993 वर्ष पश्चात् देवर्द्धिक्षपणश्रमण ने प्रस्तुत ग्रन्थ की यह अन्तिम वाचना प्रस्तुत की। इसी प्रकार स्थानांग<sup>7</sup>, भगवतीसूत्र<sup>8</sup> और आवश्यकनिर्युक्ति<sup>9</sup> में निह्नवों के उल्लेखों के साथ वे महावीर के जीवनकाल और निर्वाण से कितने समय पश्चात् हुए हैं -- यह निर्देश प्राप्त होता है। यहीं कुछ ऐसे सूत्र हैं जिनकी बाह्य सुनिश्चित समय वाले साक्ष्यों से तुलना करके ही हम महावीर की निर्वाण तिथि पर विचार कर सकते हैं।

महावीर की निर्वाण तिथि के प्रश्न को लेकर प्रारम्भ से मत-वैभिन्य रहे हैं। दिगम्बर परम्परा के द्वारा मान्य तिलोयपण्णत्ति में यद्यपि यह स्पष्ट उल्लेख है कि वीरनिर्वाण के 605 वर्ष एवं 5 मास पश्चात् शक नृप हुआ, किन्तु उसमें इस सम्बन्धी निम्न चार मतान्तरों का भी उल्लेख मिलता है।<sup>10</sup>

1. वीर जिनेन्द्र के मुक्ति प्राप्त होने के 461 वर्ष पश्चात् शक नृप हुआ।
2. वीर भगवान् के मुक्ति प्राप्त होने के 9785 वर्ष पश्चात् शक नृप हुआ।
3. वीर भगवान् के मुक्ति प्राप्त होने के 14793 वर्ष पश्चात् शक नृप हुआ।
4. वीर जिन के मुक्ति प्राप्त करने के 605 वर्ष एवं 5 माह पश्चात् शक नृप हुआ।



इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम की "धवला" टीका में भी महावीर के निर्वाण के कितने वर्षों के पश्चात् शक (शालिवाहन शक) नृप हुआ, इस सम्बन्ध में तीन मतों का उल्लेख हुआ है<sup>11</sup>—

1. वीरनिर्वाण के 605 वर्ष और पाँच माह पश्चात् ।
2. वीरनिर्वाण के 14793 वर्ष पश्चात् ।
3. वीरनिर्वाण के 7995 वर्ष और पाँच माह पश्चात् ।

श्वेताम्बर परम्परा में आगमों की देवद्वि की अन्तिमवाचना भगवान महावीर के निर्वाण के कितने समय पश्चात् हुई, इस सम्बन्ध में स्पष्टतया दो मतों का उल्लेख मिलता है -- प्रथम मत उसे वीरनिर्वाण के 980 वर्ष पश्चात् मानता है, जबकि दूसरा मत उसे 993 वर्ष पश्चात् मानता है।<sup>12</sup>

श्वेताम्बर परम्परा में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहणकाल को लेकर भी दो मान्यतायें पायी जाती हैं। प्रथम परम्परागत मान्यता के अनुसार वे वीरनिर्वाण सम्वत् 215 में राज्यासीन हुए<sup>13</sup> जबकि दूसरी हेमचन्द्र की मान्यता के अनुसार वे वीरनिर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् राज्यासीन हुए।<sup>14</sup> हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत यह दूसरी मान्यता महावीर के ई.पू. 527 में निर्वाण प्राप्त करने की अवधारणा में बाधक है।<sup>15</sup> इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में प्राचीनकाल में भी विवाद था।

चूँकि महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में प्राचीन आन्तरिक साक्ष्य सबल नहीं थे, अतः पाश्चात्य विद्वानों ने बाह्य साक्ष्यों के आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि को निश्चित करने का प्रयत्न किया, परिणाम स्वरूप महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में अनेक नये मत भी प्रकाश में आये। महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार हैं--

1. हरमन जकोबी<sup>16</sup> ई.पू. 477 इन्होंने हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के उस उल्लेख को प्रामाणिक माना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीरनिर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् राज्यासीन हुआ और इसी आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि निश्चित की।
2. जे. शारपेन्टियर<sup>17</sup> ई.पू. 467 इन्होंने भी हेमचन्द्र को आधार बनाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य के 155 वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण माना।
3. पं. ए. शान्तिराज शास्त्री<sup>18</sup> ई.पू. 663 इन्होंने शक सम्वत् को विक्रम सम्वत् माना है और विक्रम सं. के 605 वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण माना।

4. प्रो. काशीप्रसाद जायसवाल<sup>19</sup> इन्होंने अपने लेख आइडेन्टीफिकेशन आफ कल्की में मात्र दो परम्पराओं का उल्लेख किया है। महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण नहीं किया है।
5. एस. व्ही. वैक्टेस्वर<sup>20</sup> ई.पू. 437 इनकी मान्यता अनन्द विक्रम संवत् पर आधारित है। यह विक्रम संवत् के 90 वर्ष बाद प्रचलित हुआ था।
6. पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार<sup>21</sup> ई.पू. 528 इन्होंने अनेक तर्कों के आधार पर परम्परागत मान्यता को पुष्ट किया।
7. मुनि श्री कल्याणविजय<sup>22</sup> ई.पू. 528 इन्होंने भी परम्परागत मान्यता की पुष्टि करते हुए उसकी असंगति के निराकरण का प्रयास किया है।
8. प्रो. पी.एच. एल इगरमोण्ट<sup>23</sup> ई.पू. 252 इनके तर्क का आधार जैन परम्परा में तिष्यगुप्त की संघभेद की घटना का जो महावीर के जीवनकाल में उनके कैवल्य के 16वें वर्ष में घटित हुई, बौद्ध संघ में तिष्यरक्षिता द्वारा बोधि वृक्ष को सुखाने तथा संघभेद की घटना से जो अशोक के राज्यकाल में हुई थी समीकृत कर लेना है।
9. वी.ए. रिम्थ<sup>24</sup> ई.पू. 527 इन्होंने सामान्यतया प्रचलित अवधारणा को मान्य कर लिया है।
10. प्रो. के.आर. नारमन<sup>25</sup> लगभग ई.पू. 400

भगवान महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण करने हेतु जैन साहित्यिक स्रोतों के साथ-साथ हमें अनुश्रुतियों और अभिलेखीय साक्ष्यों पर भी विचार करना होगा। पूर्वोक्त मान्यताओं में कौन सी मान्यता प्रामाणिक है, इसका निश्चय करने के लिये हम तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण करेंगे और यथासम्भव अभिलेखीय साक्ष्यों को प्राथमिकता देंगे।

भगवान महावीर के समकालिक व्यक्तियों में भगवान बुद्ध, बिम्बसार, श्रेणिक और अजातशत्रु कूणिक के नाम सुपरिचित हैं। जैन स्रोतों की अपेक्षा इनके सम्बन्ध में बौद्ध स्रोत हमें अधिक जानकारी प्रदान करते हैं। जैन स्रोतों के अध्ययन से भी इनकी समकालिकता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। जैन आगम साहित्य बुद्ध के जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध में प्रायः मौन है, किन्तु बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में महावीर और बुद्ध की समकालिक उपस्थिति के अनेक

सन्दर्भ हैं। किन्तु यहाँ हम उनमें से केवल दो प्रसंगों की चर्चा करेंगे। प्रथम प्रसंग में दीघनिकाय का वह उल्लेख आता है जिसमें अजातशत्रु अपने समय के विभिन्न धर्माचार्यों से मिलता है। इस प्रसंग में अजातशत्रु का महामात्य निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र के सम्बन्ध में कहता है -- "हे देव ! ये निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र संघ और गण के स्वामी हैं, गण के आचार्य हैं, ज्ञानी, यशस्वी तीर्थंकर हैं, बहुत से लोगों के श्रद्धास्पद और सज्जन मान्य हैं। ये चिरप्रव्रजित एवं अर्धगतवय (अधेऽ) हैं।<sup>26</sup> तात्पर्य यह है कि अजातशत्रु के राज्यासीन होने के समय महावीर लगभग 50 वर्ष के रहे होंगे, क्योंकि उनका निर्वाण अजातशत्रु कोणिक के राज्य के 22वें वर्ष में माना जाता है। उनकी सर्व आयु 72 वर्ष में से 22 वर्ष कम करने पर उस समय वे 50 वर्ष के थे -- यह सिद्ध हो जाता है।<sup>27</sup> जहाँ तक बुद्ध का प्रश्न है वे अजातशत्रु के राज्यासीन होने के 8वें वर्ष में निर्वाण को प्राप्त हुए, ऐसी बौद्ध लेखकों की मान्यता है।<sup>28</sup> इस आधार पर दो तथ्य फलित होते हैं -- प्रथम महावीर जब 50 वर्ष के थे, तब बुद्ध (80-8) 72 वर्ष के थे अर्थात् बुद्ध, महावीर से उम्र में 22 वर्ष बड़े थे। दूसरे यह कि महावीर का निर्वाण, बुद्ध के निर्वाण के (22-8=14) 14 वर्ष पश्चात् हुआ था। ज्ञातव्य है कि "दीघनिकाय" के इस प्रसंग में जहाँ निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र आदि छहों तीर्थंकरों को अर्धवयगत कहा गया वहाँ गौतम बुद्ध की वय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।<sup>29</sup>

किन्तु उपरोक्त तथ्य के विपरीत "दीघनिकाय" में यह भी सूचना मिलती है कि महावीर बुद्ध के जीवनकाल में ही निर्वाण को प्राप्त हो गये थे। "दीघनिकाय" के वे उल्लेख निम्नानुसार हैं --

ऐसा मैंने सुना -- एक समय भगवान् शाक्य (देश) में वेधन्जा नामक शाक्यों के आम्रवन प्रासाद में विहार कर रहे थे।

उस समय निगण्ठ नातपुत्त (=तीर्थंकर महावीर) की पावा में हाल ही में मृत्यु हुई थी। उनके मरने पर निगण्ठों में फूट हो गई थी, दो पक्ष हो गये थे, लड़ाई चल रही थी, कलह हो रहा था। वे लोग एक-दूसरे को वचन-रूपी वाणों से बेधते हुए विवाद करते थे -- "तुम इस धर्मविनय (धर्म) को नहीं जानते मैं इस धर्मविनय को जानता हूँ। तुम भला इस धर्मविनय को क्या जानोगे ? तुम मिथ्या प्रतिपन्न हो (तुम्हारा समझना गलत है), मैं सम्यक्-प्रतिपन्न हूँ। मेरा कहना सार्थक है और तुम्हारा कहना निरर्थक। जो (बात) पहले कहनी चाहिये थी वह तुमने पीछे कही और जो पीछे कहनी चाहिये थी, वह तुमने पहले की। तुम्हारा वाद बिना विचार का उल्टा है। तुमने वाद रोपा, तुम निग्रह-स्थान में आ गये। इस आक्षेप से बचने के लिये यत्न करो, यदि शक्ति है तो इसे सुलझाओ। मानो निगण्ठों में युद्ध (बध) हो रहा था।

निगण्ठ नातपुत्त के जो श्वेत-वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य थे, वे भी निगण्ठ के वैसे दुराख्यात (ठीक से न कहे गये), दुष्प्रवेदित (ठीक से न साक्षात्कार किये गये), अ-नैर्गणिक (पार न लगाने वाले), अन्-उपशम-संवर्तनिक (न-शान्तिगामी), अ-सम्यक्-संबुद्ध-प्रवेदित (किसी बुद्ध द्वारा न साक्षात् किया गया), प्रतिष्ठा (नींव)-रहित भिन्न-स्तूप, आश्रयरहित धर्म में

अन्यमनस्क हो खिन्न और विरक्त हो रहे थे।<sup>30</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर त्रिपिटक साहित्य में महावीर को अर्धेडवय का कहा गया है, वहीं दूसरी ओर बुद्ध के जीवनकाल में उनके स्वर्गवास की सूचना भी है। इतना निश्चित है कि दोनों बातें एक साथ सत्य सिद्ध नहीं हो सकतीं। मुनि कल्याणविजयजी आदि ने बुद्ध के जीवनकाल में महावीर के निर्वाण सम्बन्धी अवधारणा को भ्रान्त बताया है, उन्होंने महावीर के कालकवलित होने की घटना को उनकी वास्तविक मृत्यु न मानकर, उनकी मृत्यु का प्रवाद माना है। जैन आगमों में भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि उनके निर्वाण के लगभग 16 वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु का प्रवाद फैल गया था, जिसे सुनकर अनेक जैन श्रमण भी अश्रुपात करने लगे थे। चूँकि इस प्रवाद के साथ महावीर के पूर्व शिष्य मंखलीगोशाल और महावीर एवं उनके अन्य श्रमण शिष्यों के बीच हुए कटु-विवाद की घटना जुड़ी हुई थी। अतः दीघनिकाय का प्रस्तुत प्रसंग इन दोनों घटनाओं का एक मिश्रित रूप है। अतः बुद्ध के जीवनकाल में महावीर की मृत्यु के दीघनिकाय के उल्लेख को उनकी वास्तविक मृत्यु का उल्लेख न मानकर गोशालक के द्वारा विवाद के पश्चात् फेंकी गई तेजोलेश्या से उत्पन्न दाह ज्वार जन्य तीव्र बीमारी के फलस्वरूप फैले उनकी मृत्यु के प्रवाद का उल्लेख मानना होगा।

चूँकि बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रुकुणिक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष<sup>31</sup> में हुआ, अतः महावीर का 22वें वर्ष मे<sup>32</sup> हुआ होगा। अतः इतना निश्चित है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण के 14 वर्ष बाद हुआ। इसलिये बुद्ध की निर्वाण की तिथि का निर्धारण महावीर की निर्वाण तिथि को प्रभावित अवश्य करेगा।

सर्वप्रथम हम महावीर की निर्वाण तिथि का जैनस्रोतों एवं अभिलेखों के आधार पर निर्धारण करेंगे और फिर यह देखेंगे कि इस आधार पर बुद्ध की निर्वाण तिथि क्या होगी ?

महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण करते समय हमें यह देखना होगा कि आचार्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र की महापद्मनन्द एवं चन्द्रगुप्त मौर्य से, आचार्य सुहस्ति की सम्प्रति से, आर्य मंक्षु (मंगू), आर्य नन्दिल, आर्य नागहस्ति, आर्यवृद्ध एवं आर्य कृष्ण की अभिलेखों में उल्लेखित उनके काल से तथा आर्य देवद्विदक्षमाश्रमण की वल्लभी के राज ध्रुवसेन से समकालीनता किसी प्रकार बाधित नहीं हो। इतिहासविद् सामान्यतया इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि चन्द्रगुप्त का राज्यसत्ताकाल ई.पू. 321 से ई.पू. 297 तक रहा है।<sup>33</sup> अतः वही सत्ताकाल भद्रबाहु और स्थूलीभद्र का भी होना चाहिये। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि चन्द्रगुप्त ने नन्दों से सत्ता हस्तगत की थी और अन्तिम नन्द के मन्त्री शकडाल का पुत्र स्थूलीभद्र था। अतः स्थूलीभद्र को चन्द्रगुप्त मौर्य का कनिष्ठ समसामयिक और भद्रबाहु को चन्द्रगुप्त मौर्य का वरिष्ठ समसामयिक होना चाहिये। चाहे यह कथन पूर्णतः विश्वसनीय माना जाये या नहीं माना जाये कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन दीक्षा ग्रहण की थी -- फिर भी जैन अनुश्रुतियों के आधार पर इतना तो मानना ही होगा कि भद्रबाहु और स्थूलीभद्र चन्द्रगुप्त मौर्य के समसामयिक थे। स्थूलीभद्र के वैराग्य का मुख्य कारण उसके पिता के प्रति नन्दवंश के अन्तिम शासक

महापद्मनन्द का दुर्व्यवहार और उनकी घृणित हत्या मानी जा सकती है।<sup>34</sup> पुनः स्थूलीभद्र भद्रबाहु से नहीं अपितु सम्भूतिविजय से दीक्षित हुए थे। पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना के समय वाचना प्रमुख भद्रबाहु और स्थूलीभद्र न होकर सम्भूतिविजय रहे हैं -- क्योंकि उस वाचना में ही स्थूलीभद्र को भद्रबाहु से पूर्व-ग्रन्थों का अध्ययन कराने का निश्चय किया गया था -- अतः प्रथम वाचना नन्द शासन के ही अन्तिम चरण में कभी हुई है। इस प्रथम वाचना का काल वीरनिर्वाण संवत्. माना जाता है। यदि हम एक बार दोनों परम्परागत मान्यताओं को सत्य मानकर यह मानें कि आचार्य भद्रबाहु वीरनिर्वाण सं. 156 से 170 तक आचार्य रहे<sup>35</sup> और चन्द्रगुप्त मौर्य वीरनिर्वाण सं. 215 में राज्यासीन हुआ तो दोनों की सम-सामयिकता सिद्ध नहीं होती है। इस मान्यता का फलित यह है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यासीन होने के 45 वर्ष पूर्व ही भद्रबाहु स्वर्गवासी हो चुके थे। इस आधार पर स्थूलीभद्र चन्द्रगुप्त मौर्य के लघु सम-सामयिक भी नहीं रह जाते हैं। अतः हमें यह मानना होगा कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीरनिर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् ही राज्यासीन हुआ। हिमवन्त स्थविरावली<sup>36</sup> एवं आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व<sup>37</sup> में भी यही तिथि मानी गई है। इस आधार पर भद्रबाहु और स्थूलीभद्र की चन्द्रगुप्त मौर्य से सम-सामयिकता भी सिद्ध हो जाती है। लगभग सभी पट्टावलियाँ भद्रबाहु के आचार्यत्वकाल का समय वीरनिर्वाण 156-170 मानती हैं।<sup>38</sup> दिगम्बर परम्परा में भी तीन केवली और पाँच श्रुतकेवलि का कुल समय 162 वर्ष माना गया है। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवलि थे अतः दिगम्बर परम्परानुसार भी उनका स्वर्गवास वीरनिर्वाण सं. 162 मानना होगा।<sup>39</sup> इस प्रकार दोनो परम्पराओं के अनुसार भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की सम-सामयिकता सिद्ध हो जाती है। मुनि श्री कल्याणविजयजी ने चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की सम-सामयिकता सिद्ध करने हेतु सम्भूतिविजय का आचार्यत्वकाल 8 वर्ष के स्थान पर 60 वर्ष मान लिया। इस प्रकार उन्होंने एक ओर महावीर का निर्वाण समय ई.पू. 527 मानकर भी भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की सम-सामयिकता स्थापित करने का प्रयास किया।<sup>40</sup> किन्तु इस सन्दर्भ में आठ का साठ मान लेना उनकी अपनी कल्पना है, इसका प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है।<sup>41</sup> सभी श्वेताम्बर पट्टावलियाँ वीरनिर्वाण सं. 170 में ही भद्रबाहु का स्वर्गवास मानती हैं। पुनः तित्थोगाली में भी यही निर्दिष्ट है कि वीरनिर्वाण संवत् 170 में चौदह पूर्वा के ज्ञान का विच्छेद (क्षय) प्रारम्भ हुआ। भद्रबाहु ही अन्तिम 14 पूर्वधर थे-- उनके बाद कोई भी 14 पूर्वधर नहीं हुआ। अतः भद्रबाहु का स्वर्गवास श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण सं. 170 में और दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण सं. 162 ही सिद्ध होता है और इस आधार पर भद्रबाहु एवं स्थूलीभद्र की अन्तिम नन्द एवं चन्द्रगुप्त मौर्य से सम-सामयिकता तभी सिद्ध हो सकती है जब महावीर का निर्वाण विक्रम पूर्व 410 तथा ई.पू. 467 माना जाये। अन्य अभी विकल्पों में भद्रबाहु एवं स्थूलीभद्र की अन्तिम नन्दराजा और चन्द्रगुप्त मौर्य से समकालिकता घटित नहीं हो सकती है। "तित्थोगाली पडन्नयं" में भी स्थूलीभद्र और नन्दराजा की समकालिकता वर्णित है।<sup>42</sup> अतः इन आधारों पर महावीर का निर्वाण ई.पू. 467 ही अधिक युक्ति संगत लगता है।

पुनः आर्य सुहस्ति और सम्प्रति राजा की समकालीनता भी जैन परम्परा में सर्वमान्य है।

इतिहासकारों ने सम्प्रति का समय ई.पू. 231-221 माना है।<sup>43</sup> जैन पट्टावलियों के अनुसार आर्य सुहस्ति युग प्रधान आचार्यकाल वीरनिर्वाण सं. 245-291 तक रहा है। यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू. 527 को आधार बनाकर गणना करें तो यह मानना होगा कि आर्य सुहस्ति ई.पू. 282 में युग प्रधान आचार्य बने और ई.पू. 236 में स्वर्गवासी हो गये। इस प्रकार वीरनिर्वाण ई.पू. 527 में मानने पर आर्य सुहस्ति और सम्प्रति राजा में किसी भी रूप में समकालीनता नहीं बनती है। किन्तु यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानते हैं तो आर्य सुहस्ति आचार्य काल 467-245 ई.पू. 222 से प्रारम्भ होता है। इससे समकालिकता तो बन जाती है-- यद्यपि आचार्य के आचार्यत्वकाल में सम्प्रति का राज्यकाल लगभग 1 वर्ष ही रहता है। किन्तु आर्य सुहस्ति का सम्पर्क सम्प्रति से उसके यौवराज्य काल में, जब वह अवन्ति का शासक था, तब हुआ था और सम्भव है कि तब आर्य सुहस्ति संघ के युग प्रधान आचार्य न होकर भी प्रभावशाली मुनि रहे हो। ज्ञातव्य है कि आर्य सुहस्ति स्थूलीभद्र से दीक्षित हुए थे। पट्टावलियों के अनुसार स्थूलीभद्र की दीक्षा वीरनिर्वाण सं. 146 में हुई थी और स्वर्गवास वीरनिर्वाण 215 में हुआ था। इससे यह फलित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक के 9 वर्ष पूर्व अन्तिम नन्द राजा (नव नन्द) के राज्यकाल में वे दीक्षित हो चुके थे। यदि पट्टावली के अनुसार आर्य सुहस्ति की सर्व आयु 100 वर्ष और दीक्षा आयु 30 वर्ष मानें तो वे वीरनिर्वाण सं. 221 अर्थात् ई.पू. 246 (वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर) में दीक्षित हुए हैं। इससे आर्य सुहस्ति की सम्प्रति से समकालिकता तो सिद्ध हो जाती है किन्तु उन्हें स्थूलीभद्र का हस्त-दीक्षित मानने में 6 वर्ष का अन्तर आता है, क्योंकि उनके दीक्षित होने के 6 वर्ष पूर्व ही वीरनिर्वाण से 215 में स्थूलीभद्र का स्वर्गवास हो चुका था। सम्भावना यह भी हो सकती है कि सुहस्ति 30 वर्ष की आयु के स्थान पर 23-24 वर्ष में ही दीक्षित हो गये हों। फिर भी यह सुनिश्चित है कि पट्टावलियों के उल्लेखों के आधार पर आर्य सुहस्ति और सम्प्रति की समकालीनता वीरनिर्वाण ई.पू. 467 पर ही सम्भव है। उसके पूर्व ई.पू. 527 में अथवा उसके पश्चात् की किसी भी तिथि को महावीर का निर्वाण मानने पर यह समकालीनता सम्भव नहीं है।

इस प्रकार "भद्रबाहु और स्थूलीभद्र की महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य से तथा आर्य सुहस्ती की सम्प्रति से समकालीनता वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर सिद्ध की जा सकती है। अन्य सभी विकल्पों में इनकी समकालिकता सिद्ध नहीं होती है। अतः मेरी दृष्टि में महावीर का निर्वाण ई.पू. 467 मानना अधिक युक्ति संगत होगा।

अब हम कुछ अभिलेखों के आधार पर भी महावीर के निर्वाण समय पर विचार करेंगे --

मथुरा के अभिलेखों<sup>44</sup> में उल्लेखित पाँच नामों में से नन्दिसूत्र स्थविरावली<sup>45</sup> के आर्य मंगु, आर्य नन्दिल और आर्य हस्ति (हस्त हस्ति)-- ये तीन नाम तथा कल्पसूत्र स्थविरावली<sup>46</sup> के आर्य कृष्ण और आर्य वृद्ध ये दो नाम मिलते हैं। पट्टावलियों के अनुसार आर्य मंगु का युग-प्रधान आचार्यकाल वीरनिर्वाण संवत् 451 से 470 तक माना गया है।<sup>47</sup> वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर इनका काल ई.पू. 16 से ई.सन् 3 तक और वीरनिर्वाण ई.पू. 527 मानने पर इनका काल ई.पू. 76 से ई.पू. 57 आता है। जबकि अभिलेखीय

आधार पर इनका काल शक सं. 52 (हुविष्क वर्ष 52) अर्थात् ई.सन् 130 आता है<sup>48</sup> -- अर्थात् इनके पट्टावली और अभिलेख के काल में वीरनिर्वाण ई.पू. 527 मानने पर लगभग 200 वर्षों का अन्तर आता है और वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर भी लगभग 127 वर्ष का अन्तर तो बना ही रहता है। अनेक पट्टावलियों में आर्य मंगु का उल्लेख भी नहीं है। अतः उनके काल के सम्बन्ध में पट्टावलीगत अवधारणा प्रामाणिक नहीं है। पुनः आर्य मंगु का नाम मात्र जिस नन्दीसूत्र स्थविरावली में है और यह स्थविरावली भी गुरु-शिष्य परम्परा की सूचक नहीं है। अतः बीच में कुछ नाम कूटने की सम्भावना है जिसकी पुष्टि स्वयं मुनि कल्याणविजयजी ने भी की है।<sup>49</sup> इस प्रकार आर्य मंगु के अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर महावीर के निर्वाण काल का निर्धारण सम्भव नहीं है। क्योंकि इस आधार पर ई.पू. 527 की परम्परागत मान्यता ई.पू. 467 की विद्वन्मान्य मान्यता दोनों ही सत्य सिद्ध नहीं होती है। अभिलेख एवं पट्टावली का समीकरण करने पर इससे वीरनिर्वाण ई.पू. 360 के लगभग फलित होता है। इस अनिश्चता का कारण आर्य मंगु के काल को लेकर विविध भ्रान्तियों की उपस्थिति है।

जहाँ तक आर्य नन्दिल का प्रश्न है हमें उनके नाम का उल्लेख भी नन्दिसूत्र में मिलता है। नन्दिसूत्र में उनका उल्लेख आर्य मंगु के पश्चात् और आर्य नागहस्ति के पूर्व मिलता है।<sup>50</sup> मथुरा के अभिलेखों में नन्दिक (नन्दिल) का एक अभिलेख शक-सम्बत् 32 का है। दूसरे शक सं. 93 के लेख में नाम स्पष्ट नहीं है, मात्र "न्दि" मिला है।<sup>51</sup> आर्य नन्दिल का उल्लेख प्रबन्धकोश एवं कुछ प्राचीन पट्टावलियों में भी है -- किन्तु कहीं पर भी उनके समय का उल्लेख नहीं होने से इस अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर महावीर के निर्वाणकाल का निर्धारण सम्भव नहीं है।

अब हम नागहस्ति की ओर आते हैं -- सामान्यतया सभी पट्टावलियों में आर्य वज्र का स्वर्गवास वीरनिर्वाण सं. 584 में माना गया है। आर्य वज्र के पश्चात् 13 वर्ष आर्य रक्षित, 20 वर्ष पुष्यमित्र और 3 वर्ष वज्रसेन युगप्रधान रहे अर्थात् वीरनिर्वाण सं. 620 में वज्रसेन का स्वर्गवास हुआ। मेरुतुंग की विचारश्रेणी में इसके बाद आर्य निर्वाण 621 से 690 तक युगप्रधान रहे।<sup>52</sup> यदि मथुरा अभिलेख के हस्तहस्ति ही नागहस्ति हो तो माघहस्ति के गुरु के रूप में उनका उल्लेख शक सं. 54 के अभिलेख में मिलता है अर्थात् वे ई. सन् 132 के पूर्व हुए हैं। यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानते हैं तो उनका युग प्रधान काल ई. सन् 154-223 आता है। अभिलेख उनके शिष्य को ई. सन् 132 में होने की सूचना देता है यद्यपि यह मानकर सन्तोष किया जा सकता है युग प्रधान होने के 22 वर्ष पूर्व उन्होंने किसी को दीक्षित किया होगा। यद्यपि इनकी सर्वायु 100 वर्ष मानने पर तब उनकी आयु मात्र 11 वर्ष होगी और ऐसी स्थिति में उनके उपदेश से किसी का दीक्षित होना और उस दीक्षित शिष्य के द्वारा मूर्ति प्रतिष्ठा होना असम्भव सा लगता है। किन्तु यदि हम परम्परागत मान्यता के आधार पर वीरनिर्वाण को शक संवत् 605 पूर्व या ई. पू. 527 मानते हैं तो पट्टावलीगत उल्लेखों और अभिलेखीय साक्ष्यों में संगति बैठ जाती है। इस आधार पर उनका युग प्रधान काल शक सं. 16 से शक

सं. 85 के बीच आता है और ऐसी स्थिति में शक सं. 54 में उनके किसी शिष्य के उपदेश से मूर्ति प्रतिष्ठा होना सम्भव है। यद्यपि 69 वर्ष तक उनका युग प्रधानकाल मानना सामान्य बुद्धि से युक्ति संगत नहीं लगता है। अतः नागहस्ति सम्बन्धी यह अभिलेखीय साक्ष्य पट्टावली की सूचना को सत्य मानने पर महावीर का निर्वाण ई.पू. 527 मानने के पक्ष में जाता है।

पुनः मथुरा के एक अभिलेखयुक्त अंकन में आर्यकृष्ण का नाम सहित अंकन पाया जाता है। यह अभिलेख शक संवत् 95 का है।<sup>53</sup> यदि हम आर्यकृष्ण का समीकरण कल्पसूत्र स्थविरावली में शिवभूति के बाद उल्लिखित आर्यकृष्ण से करते हैं<sup>54</sup> तो पट्टावलियों एवं विशेषावश्यक भाष्य के आधार पर इनका सत्ता समय वीरनिर्वाण सं. 609 के आस-पास निश्चित होता है।<sup>55</sup> क्योंकि इन्हीं आर्यकृष्ण और शिवभूति के वस्त्र सम्बन्धी विवाद के परिणाम स्वरूप बोटिक निह्वन् की उत्पत्ति हुई थी और इस विवाद का काल वीरनिर्वाण संवत् 609 सुनिश्चित है। वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर उस अभिलेख काल का 609-467=142 ई. आता है। यह अभिलेखयुक्त अंकन 95+78=173 ई. का है। चूँकि अंकन में आर्यकृष्ण को एक आराध्य के रूप अंकित करवाया गया है। यह स्वाभाविक है कि उनकी ही शिष्य परम्परा के किसी आर्य अर्ह द्वारा ई.सन् 173 में यह अंकन उनके स्वर्गावास के 20-25 वर्ष बाद ही हुआ होगा। इस प्रकार यह अभिलेखीय साक्ष्य वीरनिर्वाण संवत् ई.पू. 467 मानने पर ही अन्य साहित्यिक उल्लेखों से संगति रख सकता है, अन्य किसी विकल्प से इसकी संगति बैठाना सम्भव नहीं है।

मथुरा अभिलेखों में एक नाम आर्यवृद्धहस्ति का भी मिलता है। इनके दो अभिलेख मिलते हैं। एक अभिलेख शक सं. 60 (हुवष्क वर्ष 60) और दूसरा शक सं. 79 का है।<sup>56</sup> ईस्वी सन् की दृष्टि से ये दोनों अभिलेख ई. सन् 138 और ई.सन् 157 के हैं। यदि ये वृद्धहस्ति ही कल्पसूत्र स्थविरावली के आर्यवृद्ध और पट्टावलियों के वृद्धदेव हों तो पट्टावलियों के अनुसार उन्होंने वीरनिर्वाण 695 में कोरंटक में प्रतिष्ठा करवाई थी।<sup>57</sup> यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानते हैं तो यह काल 695-467=228 ई. आता है। अतः वीरनिर्वाण ई.पू. 527 मानने पर इस अभिलेखीय साक्ष्य और पट्टावलीगत मान्यता का समीकरण ठीक बैठ जाता है। पट्टावली में वृद्ध का क्रम 25वाँ है। प्रत्येक आचार्य का औसत सत्ता काल 25 वर्ष मानने पर इनका समय वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानने पर भी अभिलेख से वीरनिर्वाण 625 आवेगा और तब 625-467=158 ई. संगति बैठ जायेगी।

अन्तिम साक्ष्य जिस पर महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण किया जा सकता है, वह है महाराज ध्रुवसेन के अभिलेख और उनका काल। परम्परागत मान्यता यह है कि वल्लभी की वाचना के पश्चात् सर्वप्रथम कल्पसूत्र की सभा के समक्ष वाचना आनन्दपुर (बडनगर) में महाराज ध्रुवसेन के पुत्र-मरण के दुःख को कम करने के लिये की गयी। यह काल वीरनिर्वाण सं. 980 या 993 माना जाता है।<sup>58</sup> ध्रुवसेन के अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं। ध्रुवसेन प्रथम का काल ई.सं. 525 से 550 तक माना जाता है।<sup>59</sup> यदि यह घटना उनके राज्यारोहण के द्वितीय वर्ष ई.सन् 526 की हो तो महावीर का निर्वाण 993-526=469 ई.पू. सिद्ध होता है।



इस प्रकार इन पाँच अभिलेखीय साक्ष्यों में तीन तो ऐसे अवश्य हैं, जिनसे महावीर का निर्वाण ई.पू. 467 सिद्ध होता है। जबकि दो ऐसे हैं जिनसे वीरनिर्वाण ई.पू. 527 भी सिद्ध हो सकता है। एक अभिलेख का इनसे कोई संगति नहीं है। ये असंगतियाँ इसलिये भी हैं कि पट्टावलियों में आचार्यों का जो काल दिया गया है उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और आज हमारे पास ऐसा कोई आधार नहीं है जिसके आधार पर इस असंगति को समाप्त किया जा सके। फिर भी इस विवेचना में हम यह पाते हैं कि अधिकांश साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्य महावीर के निर्वाण काल को ई.पू. 467 मानने की ही पुष्टि करते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्ध निर्वाण ई.पू. 482, जिसे अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने मान्य किया है, मानना होगा और तभी यह सिद्ध होगा कि बुद्ध के निर्वाण के लगभग 15 वर्ष पश्चात् महावीर का निर्वाण हुआ।

# सन्दर्भ

- 1 (अ). णिव्वाणे वीर जिणे छव्वाससेसु पंचवरिसेसु। पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ।। -- तिलोयपण्णत्ति, 4/1499
- (ब) पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया । परिणिव्वुअस्सऽरिहतो सो उप्पण्णो सगो राया ।। -- तित्थोगाली पइन्नय 623
2. पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता, 1956, पृ. 26-44, 45-46
3. मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, प्रकाशक क.वि. शास्त्र समिति, जालौर (मारवाड़), पृ. 159
4. तित्थोगाली पइन्नयं (गाथा 623), पइण्णयसुत्ताइं, सं. मुनि पुष्यविजय, प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, 400036
5. तिलोयपण्णत्ति, 4/1499 सं. प्रो. हीरालाल जैन, जैन संस्कृतिरक्षक संघ शोलापुर,
6. कल्पसूत्र, 147, पृ. 145, अनुवादक माणिकमुनि, प्रकाशक -- सोभागमल हरकावत, अजमेर
7. ठाणं (स्थानांग), अंगुसुत्ताणि भाग 1, आचार्य तुलसी, जैनविश्वभारती, लाडनू 7/141
8. भगवई 9/222-229 (अंगसुत्ताणि भाग 2 -- आचार्य तुलसी, जैनविश्वभारती लाडनू)
9. बहुरय पएस अव्वत्तसमुच्छादुगतिग अबद्धिया चेव ।  
सत्तेए णिण्हगा खलु तित्थमि उ वद्धमाणस्स ।।  
बहुरय जमालिपभवा जीवपएसया य तीसगुत्ताओ ।  
अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ।।  
गंगाओ दोकिरिया छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।  
थेराय गोठ्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं पस्सिविती ।।  
सावत्थी उसभपुर सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं ।  
पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीरपुरं च नगराइ ।।  
चोद्दस सोलस वासा चौद्दसवीसुत्तरा य दोण्णि सया ।  
अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला ।।  
पंच सया चुलसीया छच्चेव सया णवोत्तरा होंति ।  
णाणुपत्तीय दुवे उप्पण्णा णिव्वुए सेसा ।।  
-- आवश्यकनिर्युक्ति 778-783 [निर्युक्तिसंग्रह -- सं. विजयजिनसेन  
सूरीश्वर हर्षपुष्पामृत, जैनग्रन्थमाला, लाखा बाखल, सौराष्ट्र, 1989]

# जैन-जगत

पार्श्वनाथ शोधपीठ परिसर, जनवरी-मार्च 1994

7-8 एवं 9 मार्च को जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर के दर्शन विभाग में यू.जी.सी. योजनान्तर्गत शिक्षकों हेतु संचालित ओरियन्टेशन कोर्स में प्रो. सागरमल जैन (निदेशक), पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी ने जैन "प्रमाण-मीमांसा" पर तीन व्याख्यान दिये।

25 एवं 26 मार्च को गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद द्वारा आयोजित सेमिनार में प्रो. सागरमल जैन (निदेशक), पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी ने "जैन आगमों में मूल्यात्मक शिक्षा और वर्तमान सन्दर्भ" शीर्षक शोध-पत्र पढ़ा।

5-6 एवं 7 मार्च को पार्श्वनाथ शोधपीठ परिसर में "राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान" द्वारा आयोजित "धर्म एवं समाज : प्राचीनकाल से आधुनिक युग तक" विषयक त्रि-दिवसीय गोष्ठी में प्रो. सागरमल जैन (निदेशक), पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी ने विषय-प्रवर्तन किया।

## डॉ. विलास आदिनाथ संगवे पुरस्कृत

जैनविद्या के वरिष्ठ विद्वान् डॉ. विलास आदिनाथ संगवे (कोल्हापुर) को अहिंसा इण्टरनेशनल द्वारा 30 जनवरी 1994 को अहिंसा इण्टरनेशनल डिप्टीमल जैन पुरस्कार (रु. 15,000) से दिल्ली में 30 जनवरी को गुरु नानक फाउण्डेशन सभागार में समारोह पूर्वक पुरस्कृत किया गया। समारोह में राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्द जी एवं विश्वधर्म प्रेरक आचार्य श्री सुशील कुमार (दिवंगत, अप्रैल 1994) के सान्निध्य में भूतपूर्व केन्द्रीय मन्त्री एवं अध्यक्ष, वित्त आयोग श्री के.सी. पन्त द्वारा पुरस्कार प्रदान किया गया। समारोह की अध्यक्षता श्री चरतीलाल गोयल, अध्यक्ष दिल्ली विधानसभा ने की।

## अमृत-महोत्सव

पार्श्वनाथ शोधपीठ के मानद मन्त्री, प्रसिद्ध उद्योगपति एवं समाज-सेवी माननीय भूपेन्द्रनाथ जैन का अमृत महोत्सव (75वीं वर्षगाँठ) दिनांक 15 दिसम्बर, 1993 को न्यूकेम लिमिटेड, फरीदाबाद में अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। समारोह में इष्ट-मित्रों, परिजनों, फरीदाबाद जैन समाज के गणमान्य व्यक्तियों तथा न्यूकेम लिमिटेड के पदाधिकारियों के साथ-साथ पार्श्वनाथ शोधपीठ प्रबन्ध समिति के पूर्व अध्यक्ष श्री विजयकुमारजी मोतीवाला (दिल्ली), उपाध्यक्ष श्री सुमतिप्रकाशजी, कोषाध्यक्ष श्री राजकुमारजी जैन एवं पार्श्वनाथ शोधपीठ के निदेशक प्रो. सागरमल जैन उपस्थित थे। पार्श्वनाथ शोधपीठ की तरफ से श्री विजयकुमार जैन मोतीवाला और उपाध्यक्ष श्री सुमति प्रकाश ने क्रमशः अभिनन्दन-पत्र और शॉल भेंट की, अभिनन्दन-पत्र का वाचन प्रो. सागरमल जैन ने किया।

इस अवसर पर न्यूकेम परिवार की ओर से पार्श्वनाथ शोधपीठ को पचहत्तर हजार रुपया भेंट किये गये। आदरणीय श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन एवं उनके परिवार का संस्था के संचालन, सम्पोषण एवं विकास में पूर्ण योगदान रहा है। आपके पिता स्व. श्री लाला हरजसराय जी इस संस्थान की स्थापना से लेकर सन् 1975 तक (लगभग 40 वर्ष) की सुदीर्घ अवधि तक इसके मानद मंत्री रहें। इसके पश्चात् मन्त्री-पद का दायित्व श्री भूपेन्द्रनाथजी के कन्धों पर है। उनके कार्यकाल में हुई संस्थान की उल्लेखनीय प्रगति समाज के समक्ष है।

इस पुनीत अवसर पर पार्श्वनाथ शोधपीठ परिवार उनके समृद्ध जीवन एवं दीर्घायु की कामना करता है।

## संगोष्ठी

"धर्म एवं समाज" विषयक त्रि-दिवसीय अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन पार्श्वनाथ शोधपीठ परिसर में दिनांक 5-6 मार्च 1994 को "राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, संकटमोचन रोड, लंका, वाराणसी के तत्त्वावधान में किया गया। इस संगोष्ठी के निदेशक प्रो. हीरालाल सिंहजी, संयोजक प्रो. सागरमल जैनजी (निदेशक), पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी, सह-संयोजक डॉ. झिनकू यादव (मंत्री), मानव संस्कृति शोध संस्थान, डॉ. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी (रीडर), कला एवं इतिहास, का.हि.वि.वि. थे। संगोष्ठी के उद्घाटन समारोह में मुख्य अतिथि माननीय श्री चन्द्रजीत यादव (संसद सदस्य), संगोष्ठी निदेशक प्रो. हीरालाल सिंहजी, समारोह की अध्यक्षता कर रहे प्रो. के.पी. सिंह और विषय प्रवर्तक प्रो. सागरमल जैन, सभी के "धर्म एवं समाज" पर सारगर्भित एवं विद्वत्तापूर्ण वक्तव्यों की सभी लोगों द्वारा सराहना की गई।

संगोष्ठी के 5 सत्रों में लगभग 40 शोध-पत्रों का वाचन हुआ। इसमें प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय, प्रो. विनोदचन्द्र श्रीवास्तव (का.हि.वि.वि., वाराणसी), प्रो. विवेकानन्द झा, डॉ. राजकुमार, डॉ. संघमित्रा (भारतीय इतिहास एवं अनुसन्धान परिषद, दिल्ली), प्रो. महेन्द्रप्रताप सिंह, डॉ. महेश विक्रम सिंह (काशी विद्यापीठ) के अतिरिक्त बहुत से स्थानीय एवं बाहर के विद्वानों ने भाग लिया।

### डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री स्मृति ग्रन्थ

जैनविद्या के मनीषी डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के बहुआयामी साहित्यिक एवं शोध अवदान व सेवाओं के स्मरण स्वरूप उनके संस्मरणीय उदार व्यक्तित्व के अनुरूप ही पूर्व निर्णयानुसार डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज की प्रेरणा से शीघ्र ही आरम्भ हो रहा है।

विद्वानों से अनुरोध है कि डॉ. शास्त्री के विषय में अभी तक जिन सज्जनों ने श्रद्धांजलियाँ कवितायें, पुण्य-संस्मरण अथवा शोधपरक, मौलिक-निबन्ध आदि न भेजे हों तो वे अपनी रचनायें प्रधान सम्पादक डॉ. राजाराम जैन, महाजन टोली नं. 2, आरा (बिहार) 802301 के पास शीघ्र भेजें।

## आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

उदयपुर वर्षावास की अवधि सन् 1981 में समता विभूति आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. की प्रेरणा से उदयपुर श्री संघ एवं मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के जैनविद्या से जुड़े विद्वानों के प्रयास की परिणति स्वरूप यह संस्थान अखिल भारतीय साधुमार्गी जैनसंघ, बीकानेर की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है।

इसका उद्देश्य अहिंसा एवं समता दर्शन की पृष्ठभूमि में जैन साहित्य के अध्ययन, शिक्षण एवं अनुसन्धान की प्रवृत्ति को विकसित करना, जैनविद्या के विद्वान तैयार करना, जैन साहित्य को आधुनिक शैली में सम्पादित एवं अनुवादित कर प्रकाशित करना है। यह संस्थान, जैन विषयों पर शोध करने वाले छात्रों को सुविधाये प्रदान करता है और समय-समय पर जैनविद्या पर मगोष्ठीयाँ, व्याख्यान, समारोह आदि आयोजित करता है।

संस्थान का संचालन जैन समाज की प्रतिष्ठित विभूतियों द्वारा हो रहा है। सर्वश्री गुमानमल चोरड़िया (अध्यक्ष), जयपुर, श्री सोनलाल सिपानी, बंगलौर, श्री अनूपचन्द्र सेठिया (उपाध्यक्ष), बीकानेर, श्री सरदारमल कांकरिया (महामंत्री), कलकत्ता और श्री उमरावमल ढड्डा (कोषाध्यक्ष), जयपुर प्रबन्ध समिति का संचालन कर रहे हैं।

संस्थान की अकादमीय गतिविधियाँ, संस्थान के शैक्षणिक परामर्शदाता प्रो. कोमलचन्द्र सोगानी, जयपुर, मानद निदेशक प्रो. सागरमल जैन (निदेशक), पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी, मानद सह-निदेशिका डॉ. सुषमा संघवी, उदयपुर के कुशल निर्देशन में संचालित हो रही हैं।

संस्थान एक समृद्ध पुस्तकालय के निर्माण की ओर प्रयासरत है। वर्तमान में संस्थान के पुस्तकालय में 3000 प्रकाशित पुस्तकें और 1500 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ हैं।

स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों (1982-87) में संस्थान द्वारा विभिन्न आगम ग्रन्थों— आचारांगसूत्र, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशासूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, कल्पसूत्र का मूलानुसारी अनुवाद, पारिभाषिक शब्दों का

विवेचन और परिशिष्ट सहित संकलन का कार्य किया गया ।

इसके पश्चात् संस्थान द्वारा समस्त प्रकीर्णक साहित्य के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया गया । अल्पसमय में ही 5 प्रकीर्णकों, 2 शोध-प्रबन्धों सहित 9 ग्रन्थों का प्रकाशन संस्थान द्वारा किया गया है । प्रो. सागरमल जैन के सम्पादकत्व में आगम संस्थान ग्रन्थमाला सं. 1, 5, 6, 7, 8 के रूप में क्रमशः "देवेन्द्रस्तव", "तंदुलवैचारिक", "चन्द्रावेद्यक", "महाप्रत्याख्यान" और "द्वीपसागर प्रज्ञप्ति" हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित है । प्रथम दो प्रकीर्णक संस्थान के शोधाधिकारी डॉ. सुभाष कोठारी एवं शेष तीन शोधाधिकारी डॉ. सुरेश सिसोदिया द्वारा अनूदित हैं । ग्रन्थमाला सं. 2 और 9 के रूप में दो ग्रन्थ "उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार", "जैनधर्म के सम्प्रदाय" क्रमशः डॉ. सुभाष कोठारी और डॉ. सुरेश सिसोदिया के पी-एच.डी. शोध-प्रबन्ध हैं । इसके अतिरिक्त आचार्य नानेश की पुस्तक का श्री एच.एस. सरूपरिया द्वारा कृत अंग्रेजी अनुवाद "इक्वेनिमिटी, फिलासफी एण्ड प्रैक्टिस", डॉ. प्रेमसुमन जैन और डॉ. सुभाष कोठारी सम्पादित "प्राकृत भारती" भी संस्थान द्वारा प्रकाशित है ।

संचालकों के प्रयास से जैनविद्या के क्षेत्र में यह संस्थान अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये, यही हमारी शुभाशंसा है ।

## मद्रास में धार्मिक शिक्षण-शिविर का आयोजन

( 17 अप्रैल-30 मई 1994 )

दक्षिण भारत जैन स्वाध्यायसंघ द्वारा 17 अप्रैल, 1994 से 30 मई, 1994 के मध्य अलग-अलग तिथियों पर मद्रास महानगर के विभिन्न क्षेत्रों-- ताम्बरम्, आलन्दूर, अम्बतुर, साहूकारपेट, पल्लावरम, रायपेटा, आवडी, पेरम्बुर, रेडहिल्स, पोसूर आदि में ग्रीष्म कालीन धार्मिक शिक्षण शिविर आयोजित किये जा रहे हैं ।

## समग्र जैन चातुर्मास सूची 1994 का प्रकाशन

अखिल भारतीय समग्र जैन चातुर्मास सूची प्रकाशन परिषद्, बम्बई द्वारा परिषद् अध्यक्ष श्री दीपचन्द्र गार्डी एवं महामन्त्री श्री शान्तिलाल छाजेड़ जैन के सदप्रयासों से समग्र जैन समाज के लगभग 11 हजार जैन साधु-साध्वियों के प्रतिवर्ष होने वाले चातुर्मासों एवं समाज की सभी गतिविधियों की जानकारी देने वाली "समग्र जैन चातुर्मास सूची" का प्रकाशन विगत 15 वर्षों की भाँति इस वर्ष भी करने का निश्चय किया गया है।

समग्र जैन चातुर्मास सूची 1994 एवं चार्ट के प्रकाशन हेतु परिषद् के पदाधिकारियों ने चातुर्मास व्यवस्था से सम्बन्धित सभी संस्थाओं एवं पदाधिकारियों से अनुरोध किया है कि वे तत्सम्बन्धित सूचनायें सम्पादक श्री बाबूलाल जैन "उज्ज्वल" के पास भेजें। सूचना के लिए सभी सन्त-सतियों के पूरे ठाणाओं के नाम, उनके सम्प्रदाय, गच्छ, समुदाय का नाम, चातुर्मास स्थल का नाम, सम्पर्क सूत्र, फोन नं., तार का पता आदि, नवदीक्षित संत-सतियों के नाम, स्थल एवं तारीख स्थानीय संघ के अध्यक्ष, मन्त्री का नाम, पता, फोन नं. एवं यातायात साधनों का विवरण भेजें।

**सम्पर्कसूत्र --**

**श्री बाबूलाल जैन, उज्ज्वल**

**105, तिरूपति अपार्टमेंट आकुर्ली, क्रास रोड नं. 9**

**कांदिविली (पूर्व)**

**बम्बई 400101, फोन नं. 8871278**



## अहिंसा इण्टरनेशनल पुरस्कार योजना

अहिंसा इण्टरनेशनल द्वारा जैन साहित्य तथा शाकाहार एवं जीव-रक्षा के लिए किये गये कार्यों के प्रोत्साहन हेतु तीन पुरस्कार प्रदान किये जाते हैं। रचनात्मक जैन साहित्य के लिए 15,000 के "अहिंसा इण्टरनेशनल डिप्टीमल जैन पुरस्कार", तथा शाकाहार एवं जीव-रक्षा के लिए दो पुरस्कारों 11,000 के "अहिंसा इण्टरनेशनल भगवानदास शोभ लाल जैन शाकाहार जीव-रक्षा पुरस्कार" तथा 5000 के "अहिंसा इण्टरनेशनल रघुवीर सिंह जैन जीव-रक्षा शाकाहार पुरस्कार" हेतु विद्वानों तथा कार्यकर्त्ताओं के नाम 30 जून 1994 तक आमन्त्रित किये जाते हैं।

साहित्य पुरस्कार हेतु विद्वान् की प्रस्तावित एकल प्रकाशित पुस्तक अथवा सम्पूर्ण प्रकाशित पुस्तकों में दो श्रेष्ठ पुस्तकों को लेखक के पूरे जीवन-परिचय, पते तथा उनके द्वारा क्रम से लिखित पुस्तकों की सूची भेजना आवश्यक है। इस पुरस्कार के लिए नाम का सुझाव स्वयं लेखक/प्रकाशक/संस्थाओं से आ सकता है।

शाकाहार जीव-रक्षा पुरस्कार के लिए इस क्षेत्र में कार्य कर रहे कार्यकर्त्ता का पूरा जीवन परिचय इन क्षेत्रों में उपलब्धियों सहित प्राप्त होना चाहिए।

पुरस्कार हेतु नामों का चयन चयनसमिति द्वारा किया जायेगा।

सम्पर्क सूत्र --

श्री सतीश कुमार जैन  
सेक्रेटरी जनरल, अहिंसा इण्टरनेशनल  
53, ऋषभ विहार  
विकास मार्ग एक्सटेंशन  
दिल्ली 110092

## महावीर पुरस्कार वर्ष 1994

प्रबन्धकारिणी कमेटी, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी के वर्ष 1994 के "महावीर पुरस्कार" के लिए जैनधर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से सम्बन्धित किसी भी विषय की पुस्तक/ शोध-प्रबन्ध की चार प्रतियाँ दिनांक 30 सितम्बर, 1994 तक आमंत्रित हैं। इस पुरस्कार में 11001 रुपये एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जायेगा। 31 दिसम्बर, 1990 के पश्चात् प्रकाशित पुस्तक ही इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं। अप्रकाशित कृतियाँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। अप्रकाशित कृतियों की तीन प्रतियाँ स्पष्ट टंकण/फोटोस्टेट की हुई तथा जिल्द बंधी होनी चाहिए।

## स्वयंभू पुरस्कार वर्ष 1994

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान) द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर के वर्ष 1994 के "स्वयंभू पुरस्कार" के लिए अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनाओं की चार प्रतियाँ 30 सितम्बर, 1994 तक आमन्त्रित हैं। इस पुरस्कार में 5001 रुपये एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जायेगा।

31 दिसम्बर, 1988 से पूर्व की प्रकाशित तथा पहले से पुरस्कृत कृतियाँ सम्मिलित नहीं की जायेंगी। अप्रकाशित कृतियाँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। उनकी तीन प्रतियाँ स्पष्ट टंकण/फोटोस्टेट की हुई तथा जिल्द बंधी होनी चाहिए। पुस्तकें संस्थान की सम्पत्ति रहेंगी वे लौटाई नहीं जायेंगी।

नियमावली तथा आवेदन का प्रारूप प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय से पत्र-व्यवहार करें।

सम्पर्कसूत्र --

दिगम्बर जैनसियाँ भट्टारकजी  
सवाई राम सिंह रोड,  
जयपुर--302 004



श्रमण

अप्रैल-जून १९९४

रजि० नं० एल० ३९ फोन : ३११४६



transform plastic ideas  
into beautiful shape

## NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to

*Nuchem* PLASTICS LTD.

Engineering Division 20/6, Mathura Road Faridabad (Haryana)

Edited, Printed and Published by Prof. Sagar Mal Jain, Director  
Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpeeth,  
Varanasi-221005